।। ओ३म् ।।

जिज्ञासा विमर्श

आचार्य सोमदेव आर्य

।। ओ३म् ।।

जिज्ञासा विमर्श

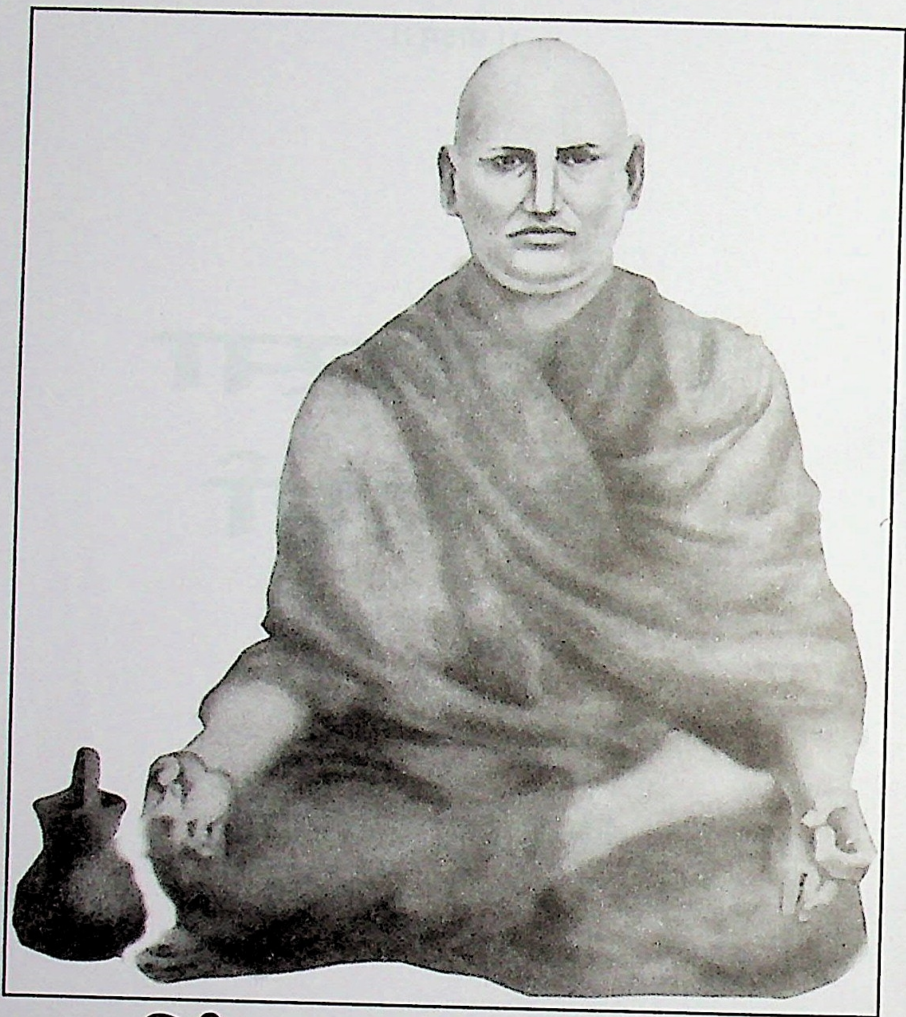
आचार्य सोमदेव आर्य

।।ओ३म्।।

जिज्ञासा विमर्श

आचार्य सोमदेव आर्य

प्रकाशक
वैदिक पुस्तकालय,
दयानन्द आश्रम, केसरगंज,
अजमेर-३०५००१ (राज.) ०१४५-२४६०१२०



महर्षि दयानन्द सरस्वती

सौजन्य

श्री चिन्तन रामी, अहमदाबाद

श्री कमल भार्गव, रामगढ़, जैसलमेर

श्री वेदप्रकाश आर्य, गुरुग्राम (गुड़गाँव)

जिज्ञासा-विमर्श

संस्करण : प्रथम(नव. २०१५) ५००० प्रतियाँ

: द्वितीय(नव. २०१६) ३००० प्रतियाँ

मूल्य : इस पुस्तक का स्वाध्याय

लेखक : आचार्य सोमदेव

ऋषि उद्यान, पुष्कर मार्ग,

अजमेर-३०५००१ (राज.)

ई-मेल- aryasomadev@gmail.com

मोबाइल : ०९०२४६६९५५५

वैदिक पुस्तकालय,

दयानन्द आश्रम, केसरगंज,

अजमेर-३०५००१ (राज.)

०१४५-२४६०१२०

एस.जी. पेपर इण्डस्ट्रीज

जियालाल मार्ग, केसरगंज,

अजमेर (राजस्थान)

कमलेश पुरोहित

मोबाइल : ०९८२८१८०१९७

ई-मेल-purohitk197@gmail.com

।।ओ३म्।।

विषय-सूची

प्रकाशकीय

आचार्य सोमदेव जी की पुस्तक 'जिज्ञासा विमर्श' परोपकारी के पाठकों की जिज्ञासा का परिणाम है। बालक जब उत्पन्न होता है, तब से उसका शिशु-मन जिज्ञासाओं से भरा होता है। यही कारण है कि तीव्र जिज्ञासा उसके ज्ञान को उसी गति से बढ़ाती है। जीवन के प्रारम्भिक तीन वर्ष में बालक का ज्ञान जिस गति से बढ़ता है, उस गति से फिर कभी जीवन की किसी आयु में नहीं बढ़ता। जैसे बालक बढ़ता है, उसके माता-पिता, उसके साथी, उसके गुरुजन जिज्ञासा को रोकने का काम करते हैं। बालक के मन में प्रश्न उठ रहा है, परन्तु पूछने का साहस नहीं कर पाता। वह सोचता है- मेरे प्रश्न पूछने से उत्तर देने वाला कहीं रुष्ट तो नहीं हो जायेगा? बस उसकी जिज्ञासा पर विराम लग जाता है।

यह कितनी विचित्र बात है कि विज्ञान में जिज्ञासा को हम अनिवार्य मानते हैं, परन्तु धर्म के क्षेत्र में जिज्ञासा को बुरा समझते हैं। धर्म के क्षेत्र में जिज्ञासा करना धर्म का, धर्मगुरु का अपमान समझा जाता है, परिणामस्वरूप जीवन में जब भी धर्म की बात आती है, व्यक्ति हथियार डाल देता है और जो कहा जा रहा है, उसे यथावत् स्वीकार कर लेता है। आर्यसमाज के उपदेशक एक रोचक प्रसंग सुनाते हैं- एक व्यक्ति का बेटा दसवीं में अनुत्तीर्ण हो गया। पिता झाड़-फूँक वाले के पास गया। उसने उसे एक ताबीज बनाकर दिया और कहा- बच्चे के गले में काला डोरा डाल कर बाँध देना, बच्चा अगले वर्ष उत्तीर्ण हो जायेगा। जब वह व्यक्ति वहाँ से ताबीज लेकर उठने लगा तो उसको स्मरण हो आया, इधर कई दिनों से भैंस दूध कम दे रही है, उसने लगे हाथों झाड़-फूँक वाले के सामने यह समस्या भी रख दी। उसने भी पाँच रुपये और लिये, एक ताबीज भैंस के लिये बना दिया। वह आदमी दोनों ताबीज जेब में रखकर घर आ गया। एक ताबीज उसने बालक के गले में बाँधा और दूसरा भैंस के

सींग पर बाँध दिया। अगले वर्ष उसकी भैंस दसवीं पास हो गई और लड़का दूध देने लग गया, क्योंकि ताबीज बदल गये थे।

यह जिज्ञासा न करने का परिणाम है। ऋषि दयानन्द ने अपने अनुयायियों को प्रश्न करने का अधिकार देकर बड़ा उपकार किया है। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में भारतीय मत-मतान्तरों का खण्डन करते हुए ऋषि से प्रश्न किया गया है- आप अपने को ही ठीक और बाकी सब को झूठा कहते हैं, क्या यह उचित है ? इसके उत्तर में ऋषि ने एक पात्र की कल्पना की है, उसे सब मत-मतान्तरों के पास जाकर उन मतों के विषय में जानने के लिये कहा है। वह पात्र है जिज्ञासु। जिज्ञासु एक-एक मत के गुरु के पास जाता है, उनके मत की अच्छाइयाँ पूछता है, क्या करना है, इसकी जानकारी लेता है। प्रत्येक मत का गुरु जिज्ञासु को अपने मत की अच्छाई बताता है, परन्तु जब जिज्ञासु दूसरे अन्य मत के विषय में जानने के लिए जाने की बात कहता है, तब गुरु उसको रोक देता है और कहता है- किसी दूसरे मत की बात मत सुन, केवल हमारी बात सुन, जो मैं कहता हूँ, वही कर। दूसरे तुझे बहका देंगे। हमसे अच्छा कोई मत संसार में नहीं है। जिज्ञासु फिर भी दूसरे, तीसरे मत वालों के पास जाता है और अन्त में लौटकर वैदिक मत वालों के पास आता है। ठीक है, ये सब झूठे हैं और आपका मत ही ठीक है, मैं इसे स्वीकार करता हूँ, यह जिज्ञासु होने का परिणाम है। सत्य-असत्य की परीक्षा के लिये मनुष्य का जिज्ञासु होना आवश्यक है।

आचार्य सोमदेव जी ने महर्षि की उसी परम्परा को परोपकारी में जिज्ञासा-समाधान के क्रम से जीवित रखा है। यह पुस्तकाकार प्रयास सभी पाठकों को सहज, सुलभ होकर सबके लिए कल्याणकारी होगा, यही कामना है।

- डॉ. धर्मवीर,
कार्यकारी प्रधान,
परोपकारिणी सभा, अजमेर

प्राक्कथन

श्री आचार्य सोमदेव जी लिखित 'जिज्ञासा विमर्श' पुस्तक पाठकों के हाथ में है। 'जिज्ञासा-समाधान' लोकप्रिय स्तम्भ में शीर्षक सोमदेव जी एक लम्बे समय से 'परोपकारी' के देश-विदेश के पाठकों की शंकाओं का समाधान कर रहे हैं। परोपकारी में प्रकाशित 'जिज्ञासा-समाधान' स्तम्भ की कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री को विषयानुसार क्रमबद्ध करके 'जिज्ञासा विमर्श' नाम से परोपकारिणी सभा जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास कर रही है। इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखते हुए कुछ विशेष ध्यान देने योग्य बिन्दु मेरे विचार में आये हैं-

१. एक बार प्रसिद्ध भजनोपदेशक पं. ओमप्रकाश जी वर्मा ने आर्य समाज के बहुमुखी प्रतिभा के कवि, सुवक्ता व गायक कुँवर सुखलाल जी से पूछा, "आप जब सभा-सम्मेलनों में बोलते हैं तो आपकी वाणी में ओज, रस, जोश व कण्ठ में मधुरता कहाँ से आ जाती है? आपकी दहाड़ सुनकर मृतकों में नवजीवन का संचार हो जाता है।"

माननीय सुखलाल जी ने कहा, "वर्मा जी! वक्ता नहीं बोला करता श्रोता बुलवाते हैं। उन्हें अपने सामने देखकर मेरे मन में भावों की भीड़ लग जाती है।"

माननीय सोमदेव जी ने एक-एक प्रश्न का उत्तर देने के लिये वेदादि सत्य शास्त्रों का कितना व्यापक व गम्भीर अध्ययन किया है, इसकी साक्षी इस पुस्तक का एक-एक पृष्ठ दे रहा है। सोमदेव जी अपने पाठकों को रिझाने के लिए साधना करते चले गये और परोपकारी के पाठक आचार्य सोमदेव जी का निर्माण करने में लगे रहे। मैं प्रायः कहा करता हूँ कि परोपकारी ने अनेक युवकों, व्यक्तियों को आर्यसमाजी बनाया है। साहित्यकार, विद्वान् सोमदेव भी तो परोपकारी पाक्षिक की एक विशेष देन है।

२. मत-पन्थों में प्रश्न करने का, मस्तिष्क से सोचने का अधिकार नहीं होता। वहाँ **'गुरु कहे सो कर, गुरु करे सो मत कर'** यह नियम चलता है। आर्यसमाज के आरम्भिक काल में उत्सवों के विज्ञापनों के ऊपर

यह पद्य छपा करता था:-

नगाड़ा धर्म का बजता है आये जिसका जी चाहे।

सदाकत वेद पावन आजमाये जिसका जी चाहे।।

यह सजीली परम्परा पूछने की, परखने की महर्षि दयानन्द जी महाराज ने ही चलाई, परन्तु इसे आन्दोलन का रूप पं. लेखराम जी ने दिया।

३. सोमदेव जी की इस पुस्तक को एक लम्बी परम्परा- एक शृंखला की कड़ी के रूप में देखने से इसकी महत्ता को समझा जा सकता है। धार्मिक जगत् में जो आर्यसमाज ने कल्पनातीत क्रान्ति की है, इसका संकेत तो हम आगे करेंगे, परन्तु इस क्रान्ति का एक मुख्य कारण आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा शंका समाधान, प्रश्नोत्तर, शास्त्रार्थ, संवाद, शंकाओं व आक्षेपों के सप्रमाण तर्क संगत उत्तर देना भी रहा है। आर्यसमाज के आरम्भिक साठ वर्षों का इतिहास साक्षी है कि अधिकांश लोग सत्यार्थप्रकाश, ऋषि जीवन, कुल्लियाते आर्य मुसाफिर, उपनिषद प्रकाश, स्वामी दर्शनानन्द जी व उपाध्याय जी के ट्रैक्ट पढ़कर वैदिक धर्मी बन गये। पं. लेखराम, स्वामी दर्शनानन्द, पं. रामचन्द्र जी की इस लेखन शैली की परम्परा को अखण्ड बनाने का बहुत-सा श्रेय वर्तमान में 'परोपकारी' पाक्षिक को जाता है। वर्तमान में आचार्य सत्यजित् जी, श्री सोमदेव जी, श्री मदन रहेजा आदि कई विद्वान् इस शैली से ठोस कार्य कर रहे हैं। श्री डॉ. धर्मवीर जी की तो व्याख्यान व संस्कार करवाने की शैली भी इसी रंगत को लिये होती है परन्तु उस शैली में लिखने-बोलने के लिए पाण्डित्य भी उन जैसा चाहिये।

सोमदेव जी के समाधान पढ़िये:- ईश्वर विषयक प्रश्नों का उत्तर देते हुए परमात्मा के निज नाम 'ओम्' को लेते हुए बहुत सारगर्भित लिखा है। ओम् का व्याकरण में रूप नहीं बदलता- न द्विवचन और न बहुवचन। ईश्वर एक है, एक है और एक ही है। निर्गुण, सगुण की इनके द्वारा की गई व्याख्या पठनीय है। 'गुण' शब्द का अर्थ Quality सिफ़त होता है फिर इन दो शब्दों में आकार-काया कहाँ से घुसेड़ दी गई? इन दो शब्दों का अर्थ साकार-निराकार कैसे होने लगा?

यजुर्वेद के ४०-८ का प्रमाण आपने दिया है। ईश्वर विषयक सब

प्रश्नों का इस एक मन्त्र में उत्तर मिल जाता है। **विश्व साहित्य में इससे बढ़कर ईश्वर के स्वरूप का तर्कसंगत वर्णन कहीं भी नहीं।** प्रभु परिभुः भीतर-बाहर व्यापक काया रहित, शुद्ध स्वरूप व पापरहित है। सर्वव्यापक होने से वह जायेगा कहाँ? और आयेगा कहाँ?

वेदः- सृष्टि में दो नियम काम करते हैं। मनुष्य की सृष्टि का नियम है कि आवश्यकता पड़ने पर वह आविष्कार करता है। परमात्मा अपनी सृष्टि में पहले आविष्कार फिर आवश्यकता पैदा करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, पेड़, वनस्पतियाँ, चन्द्र-सूर्य सब पहले ब़नाये गये, इनका उपयोग करने वाले प्राणी व मनुष्य बाद में। यह सबको मान्य है। बुद्धि को ज्ञान की आवश्यकता है। संसार के सब पदार्थों का उपभोग उपयोग भी तो प्रभु को सिखाना था सो मनुष्य को आदि सृष्टि में ही अनादि वेद ज्ञान दिया।

ईश्वर का कोई सृष्टि-नियम आज तक न बदला है और न घिसा व मिटा है। उसका सद्ज्ञान वेद आज भी दोषरहित है, पूर्ववत् कल्याणकारी है। ईश्वर के सब नियम जब अनश्वर हैं तो वेद भी अनश्वर हैं।

पुनरुक्ति दोष नहीं:- कलाकार जब फूलों की सुन्दरता का वर्णन करेगा तो वह यह चर्चा क्यों करेगा कि गुलाब के फूल के वैद्यक में गुण क्या-क्या हैं और वैद्य को गुलाब की सुगन्धि का वर्णन करने से क्या लेना-देना? इसी प्रकार वेद के मन्त्र के जिस भाव को जहाँ ग्रहण करना चाहिये, वह भाव वहाँ लेना होगा। पुनरुक्ति का दोष वेद पर नहीं थोपा जा सकता।

जीवात्माः- जीव की सत्ता विषयक प्रश्नों के शास्त्रीय प्रमाणों से सुन्दर उत्तर दिये गये हैं। आज पूरे विश्व में सब न्यायालय गोली चलाने के लिए सिपाही को नहीं, आदेश देने वाले न्यायाधीश अथवा बड़े अधिकारी को दोषी मानते हैं। सिपाही स्वतन्त्र नहीं है। विश्व ने ऋषि दयानन्द के 'स्वतन्त्र कर्त्ता' का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है। मानव की गरिमा की दुहाई ने जीव की सत्ता को मान लिया है। विज्ञान प्रकृति को अनादि व नित्य मान कर चल रहा है। ऋषि का त्रैतवाद आज किसे मान्य नहीं? बौद्धिक व्यायाम की बात दूसरी है। सब प्रश्नों के आचार्य जी द्वारा दिये गए उत्तर पठनीय हैं। अच्छा होता यदि केवल प्रश्न अथवा शंकाओं के बिन्दु देकर आगे उनके उत्तर दिये जाते। प्रश्न कर्त्ताओं का पूरा-पूरा पत्र

देने का लाभ नहीं। इससे अधिक सामग्री दी जा सकती थी। जैसे वेद आदि प्राचीन आर्ष ग्रन्थों व ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थों से प्रमाण दिये हैं, वैसे ही समाधान करते हुए पं. लेखराम जी, स्वामी दर्शनानन्द जी, पं. रामचन्द्र जी देहलवी, पूज्य उपाध्याय जी की युक्तियों का भी उपयोग किया जाता तो यह पुस्तक और ठोस बन जाती।

आर्यसमाज संस्थावाद के कारण अवश्य सिकुड़ गया है, परन्तु ऋषि दयानन्द की वैदिक विचारधारा पूरे विश्व में अपना प्रभाव दिखा रही है। इस वैचारिक क्रान्ति का मत पन्थों के ग्रन्थों व विश्व साहित्य के प्रमाणों से यत्र-तत्र इसमें दिग्दर्शन करवाया जाता तो और लाभ पहुँचता, यथाः-

१. पूरा विश्व प्रदूषण से चिन्तित है। इसके विरुद्ध सर्वप्रथम ऋषि ने आवाज उठाई। हिंसक प्राणियों की विलुप्त जातियों सिंह, बाघ, घड़ियाल, आदि की रक्षा का आन्दोलन भी ऋषि की देन है।

२. कन्याकुमारी के शिला-स्मारक में योग केन्द्र का होना, मूर्तिपूजा से बचाव-यह आर्यसमाज की वैचारिक क्रान्ति नहीं तो क्या है?

३. जातिवाद के पोषक भी जातिवाद के विरुद्ध भाषण झाड़ने पर विवश हैं।

४. बाइबिल में पाठ बदल गये। अनेक स्त्री-पुरुषों व युवा की उत्पत्ति अब ईसाई मान रहे हैं। अमैथुनी सृष्टि का सिद्धान्त स्वीकार्य हो गया है।

५. कुरान वाले प्रतिपल न्यायकारी प्रभु की न्याय व्यवस्था को मान रहे हैं। फरिश्ते अब देव विद्वान् माने जा रहे हैं। पाप क्षमा नहीं होते- यह माना जाने लगा है।

६. स्त्रियों को भले ही पौराणिक वेद नहीं पढ़ाते, परन्तु अब वेद पढ़ने से किसी को रोकने वाला कौन है? शाकाहार के पक्ष में पूरा वैज्ञानिक जगत् बोल रहा है। इस वैचारिक क्रान्ति का समाधान में दिग्दर्शन करवाते रहना चाहिये।

इस पुस्तक को बार-बार पढ़ने से वैदिक धर्म में सब की श्रद्धा बढ़ेगी। इसके प्रसार में सब सहयोगी बनें, यही मेरी कामना है। लेखक व प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं।

- राजेन्द्र 'जिज्ञासु',

वेद सदन, अबोहर, पंजाब-१५२११६

भूमिका

मनुष्य की बचपन से ही जिज्ञासु प्रवृत्ति रही है। बच्चे अपने अभिभावकों से अनेक प्रश्न करते हैं और अभिभावक उनके उत्तर देकर ज्ञान की वृद्धि करते हैं। बच्चों के प्रश्नों और बड़ों के प्रश्नों में बहुत कुछ अन्तर रहता है। बड़े गम्भीर प्रश्न पूछते हैं, जिनका उत्तर देने के लिए विशेष विचार मन्थन करना आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति जिस क्षेत्र में रुचि रखता है, उसी क्षेत्र में उसकी जिज्ञासाएँ भी बढ़ने लगती हैं। जिज्ञासाओं का आधार स्वाध्याय, विचार, श्रवण आदि बनते हैं। इनसे उठी हुई जिज्ञासाओं का समाधान व्यक्ति स्वयं विचार करके, ग्रन्थों का अवलोकन कर वा किसी विद्वान् से पाकर सन्तुष्ट होता है।

जो व्यक्ति न तो प्रवचन आदि सुनता, न ही स्वाध्याय करता, वह व्यक्ति जिज्ञासु प्रवृत्ति का कम मिलेगा। उसके ज्ञान का स्तर भी अल्प होगा, किन्तु जो स्वाध्याय वा सुने हुए के बल पर प्रश्न उठाकर जिज्ञासा करता है, यह उसकी विचारशीलता का द्योतक है। ऐसा व्यक्ति उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि करता रहता है।

'जिज्ञासा विमर्श' पुस्तक में अनेक विषयों को लेकर जिज्ञासा-समाधान किया गया है। उनमें एक विषय 'जीवात्मा' का है। जिज्ञासु ने जीवात्मा के स्वरूप से सम्बन्धित प्रश्न पूछा है कि जीवात्मा साकार है या निराकार? जिज्ञासु के इस प्रश्न का आधार एक वर्ग विशेष द्वारा आत्मा को साकार बताना है। इस वर्ग विशेष को छोड़कर अन्य किसी पूर्व के विद्वान् वा वर्तमान के विद्वानों ने आत्मा को साकार नहीं कहा। जहाँ तक मैं जानता हूँ कि आत्मा को साकार मानने वालों के पास अपनी कल्पना के अतिरिक्त कोई आर्ष प्रमाण नहीं है। इस पुस्तक में महर्षि दयानन्द के प्रमाण देते हुए आत्मा को निराकार सिद्ध किया है, जो कि आत्मा का मूल स्वरूप है। आत्मा के साकार-निराकार के विषय में मेरा पाठकों से निवेदन है कि वे किसी स्वयम्भू विद्वान् की बात न मानकर महर्षि की ही बात को मानेंगे तो भ्रान्ति निवारण होता रहेगा, अन्यथा ऐसे स्वयम्भू भ्रान्ति में

डालते ही रहेंगे। अस्तु।

आर्यसमाज में महर्षि के काल से ही जिज्ञासा-समाधान की परम्परा चली आयी है। उसी परम्परा को 'परोपकारी' पत्रिका के माध्यम से श्रद्धेय आचार्य सत्यजित् जी ने आरम्भ किया था, अब इस परम्परा को लगभग दो वर्ष से मैं चला रहा हूँ। आचार्य सत्यजित् जी की जिज्ञासा-समाधान करने की अपनी एक विशेष शैली है। आचार्य श्री जिज्ञासा के मूल में जाकर इस प्रकार समाधान करते हैं कि उस समाधान से अन्य प्रश्नों के उत्तर भी आ जाते हैं। मैं उनकी इस शैली से अत्यधिक प्रभावित रहा हूँ। जिज्ञासा-समाधान के लिए आचार्य श्री मेरे अधिक आदर्श हैं।

'जिज्ञासा विमर्श' पुस्तक पाठकों के हाथ में है, जिसका श्रेय योगनिष्ठ श्रद्धेय स्वामी विष्वङ् जी को जाता है। उन्हीं की प्रेरणा से 'परोपकारी' पत्रिका में आ रहे 'जिज्ञासा-समाधान' स्तम्भ के लेखों को इकट्ठा कर पुस्तक रूप में दिया गया है। स्वामी जी की प्रेरणा के लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ। पुस्तक को व्यवस्थित करने में सबसे अधिक सहयोग प्रिय **दीपक जी** (छिन्दवाड़ा) ने किया है, पुस्तक की प्रूफ रीडिंग **ब्र. अमित जी व डॉ. नन्दकिशोर काबरा जी** ने की, पुस्तक रूपाँकन **श्री कमलेश पुरोहित जी** ने किया व प्रकाशन **परोपकारिणी सभा** ने किया है, इन सबका हृदय से धन्यवाद। पुस्तक प्रकाशन में जिन महानुभावों ने आर्थिक सहयोग किया, उन सबका आभार मानता हूँ। जिज्ञासा-समाधान करने में जिन विद्वानों, लेखकों का सहयोग प्राप्त हुआ, उन सभी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए परमेश्वर को प्रणाम करता हूँ, जिनकी कृपा से यह कार्य अच्छी प्रकार सम्पन्न हुआ।

जिज्ञासा विमर्श का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता हो रही है। पाठकों ने इस पुस्तक को सम्मान दिया, इसके लिए पाठकों का धन्यवाद। श्रीमान् डॉ. किशोर काबरा जी को बहुत धन्यवाद कि जिन्होंने इस द्वितीय संस्करण की ठीक से प्रूफ रीडिंग की।

- सोमदेव,

ऋषि उद्यान, अजमेर

ईश्वर

जिज्ञासा १ – सत्यार्थप्रकाश में ओ३म् शब्द में स्थित अ, उ, म् अक्षरों के निम्न प्रकार अर्थ बताये हैं–

अ – विराट, अग्नि, विश्व। उ – हिरण्यगर्भ, वायु, तेज। म् – ईश्वर, आदित्य और प्रज्ञा।

स्व० श्री रामसिंह जी भजनोपदेशक ने अपनी पुस्तक 'ओ३म् की व्याख्या' (प्रकाशक– विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द) में अकार से ब्रह्म, उकार से जीव और मकार से प्रकृति भी ग्रहण करने के लिए लिखा है तथा आगे काफी विस्तृत व्याख्या की है।

मेरे द्वारा इस प्रकार बताने पर विद्वान् शास्त्री जी ने प्यार से कहा कि यह गलत है।

कृपया, मेरी भ्रान्ति प्रमाण सहित दूर करने का कष्ट करें कि क्या अकार, उकार व मकार से ब्रह्म, जीव व प्रकृति ग्रहण किये जा सकते हैं या नहीं? शास्त्री जी भी वृन्दावन गुरुकुल से स्नातक व विद्वान् हैं।

सी.के. सक्सेना, सुभाष कॉलोनी, गुना, म.प्र.

समाधान – सत्यार्थप्रकाश में महर्षि ने 'ओम्' का अर्थ करते हुए अ, उ, म्– इन तीनों अक्षरों के अलग–अलग अर्थ किये हैं। ये अर्थ महर्षि ने शास्त्र के अनुसार ही किये हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में इसकी चर्चा मिलती है। विश्वादि के लिए–जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा। (माण्डू–९) ओम् की प्रथम मात्रा अकार है। उसका सम्बन्ध जागरित स्थान से है और वह वैश्वानर= विश्वानर= विश्व–सम्बन्ध है। तैजसादि–स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा (माण्डू.–१०) ओम् की द्वितीय मात्रा उकार है। उसका सम्बन्ध स्वप्न स्थान से है और तैजस है। प्राज्ञादि–सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा। (माण्डू.–११) ओम् की तृतीय मात्रा मकार है। उसका सम्बन्ध सुषुप्त स्थान से है और वह प्राज्ञ है। यहाँ

इतना सारा लिखने का तात्पर्य यह है कि ओम् का जो अर्थ- अकार से विराट्, अग्नि, विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ, वायु, तैजसादि तथा मकार से ईश्वर, आदित्य, प्राज्ञादि किया है, वह शास्त्र सम्मत है।

आपने पूछा है कि अकार से ब्रह्म, उकार से आत्मा और मकार से प्रकृति-ऐसा अर्थ किया जा सकता है या नहीं? उत्तर- नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें कोई इस प्रकार का शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। कहीं कोश में भी ऐसा अर्थ देखने को नहीं मिलता। हाँ, कुछ विद्वानों की कल्पना अवश्य हो सकती है। कल्पना कोई कुछ भी कर सकता है, उसको कोई क्या कह सकता है! महर्षि दयानन्द जी ने तो 'ओम्' को परमात्मा का मुख्य और निज नाम ही माना है जो कि वेद सम्मत है।

जिज्ञासा २- क्या ऐसे भी गुण हैं जो ईश्वर में नहीं हैं?

- राधामोहन, बाँस बरेली, उ.प्र.

समाधान - ऐसे बहुत से गुण हैं जो ईश्वर में नहीं हैं। कुछ का वर्णन यहाँ करते हैं-

ईश्वर में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द गुण नहीं हैं। हलका-भारी रूप गुण ईश्वर में नहीं है। राग, द्वेष इच्छा आदि गुण परमेश्वर में नहीं हैं। संयोग-वियोग ईश्वर में नहीं हैं। अविद्या, जन्म, मरण आदि गुण ईश्वर में नहीं हैं। एकदेशीय, छोटा, बड़ा, ऊँचा, नीचा गुण ईश्वर में नहीं हैं। अन्याय, क्रूरता, हिंसा, पाप, छल, कपट परमेश्वर में नहीं हैं। इस प्रकार जितने भी परमेश्वर के कर्म व स्वभाव से विपरीत गुण हैं, वे गुण परमेश्वर में नहीं हैं। इसी आधार पर उसको निर्गुण कहा गया है, मात्र निराकार होने से उसे निर्गुण नहीं कहा गया है।

जिज्ञासा ३ - कृपया मेरे कुछ प्रश्नों के उत्तर दें।

(क) क्या ईश्वर संसार में किसी स्थान विशेष में, किसी काल विशेष में रहता है? क्या ईश्वर किसी जीव विशेष को किसी समुदाय विशेष के

कल्याण के लिए और दुष्टों का नाश करने के लिए भेजता है ?

(ख)क्या ईश्वर सब कुछ कर सकता है ? क्योंकि उसे सर्वशक्तिमान् कहा गया है।

(ग)क्या ईश्वर अपनी ही इच्छा से किसी व्यक्ति विशेष को धन,बल, प्रतिष्ठा, सम्मान, सफलता, सुख आदि देता है ? **- एक जिज्ञासु**

समाधान (क)- ईश्वर इस संसार के स्थान विशेष वा काल विशेष में नहीं रहता। परमेश्वर संसार के प्रत्येक स्थान में विद्यमान है। जो परमात्मा को एक स्थान विशेष पर मानते हैं, वे बाल बुद्धि के लोग हैं। वेद ने परमेश्वर को सर्वव्यापक कहा है। वेदानुकूल सभी शास्त्रों में भी परमात्मा को सर्वव्यापक कहा गया है। एक स्थान विशेष पर परमेश्वर को कोई सिद्ध नहीं कर सकता , न ही शब्द प्रमाण से और न ही युक्ति तर्क से। हाँ, ईश्वर शब्द प्रमाण और युक्ति तर्क से विभु= सर्वत्र व्यापक तो सिद्ध हो रहा है, हो सकता है। वेद में कहा-

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।

- य. ३१.३

इस पुरुष की इतनी महिमा है कि यह सारा ब्रह्माण्ड परमेश्वर के एक अंश में है, अर्थात् वह ईश्वर इस समस्त ब्रह्माण्ड में समाया हुआ अनन्त है। यह समस्त जगत् परमात्मा के एक भाग में है, अन्य तीन भाग तो परमात्मा के अपने स्वरूप में प्रकाशित हैं अर्थात् परमात्मा अनन्त है, सर्वत्र विद्यमान है, उसको किसी एक स्थान पर नहीं कह सकते।

नहि त्वा रोदसी उभे ऋघायमाणमिन्वतः।
जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि।।

- ऋ. १.१०.८

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि लिखते हैं - "जब कोई पूछे कि ईश्वर

कितना बड़ा है तो उत्तर यह है कि जिसको सब आकाश आदि बड़े-बड़े पदार्थ भी घेरे में नहीं ला सकते, क्योंकि वह अनन्त है। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि उसी परमात्मा को सेवन, उत्तम-उत्तम कर्म करने और श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति के लिए उसी से प्रार्थना करते रहें। जब जिसके गुण और कर्मों की गणना कोई नहीं कर सकता, तो कोई अंत पाने को समर्थ कैसे हो सकता है? और भी -''

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापाविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।

- य. ४०.८

इस मन्त्र में परमेश्वर को सब में व्याप्त कहा है। इस व्याप्ति से ज्ञात हो रहा है कि परमात्मा किसी एक स्थान विशेष पर नहीं अपितु सर्वत्र है। इस प्रकार परमेश्वर के सर्वत्र व्यापक स्वरूप को सिद्ध करने के लिए शास्त्र के हजारों प्रमाण दिये जा सकते हैं। कोई भी प्रमाण ऐसा उपलब्ध नहीं होता जो परमात्मा को एकदेशीय सिद्ध करता हो।

युक्ति से भी कोई परमात्मा को किसी स्थान विशेष पर सिद्ध नहीं कर सकता। आज विज्ञान का युग है, वैज्ञानिकों ने समस्त पृथिवी, समुद्र, आकाश आदि को देख डाला है। जिन किन्हीं का भगवान् समुद्र, पहाड़ आकाश आदि में होता तो अब तक वह भगवान् वैज्ञानिकों के हाथ में होता। जो लोग ईश्वर को ऊपर सातवें वा चौथे आसमान अथवा इससे कहीं और ऊपर मानते हैं, वे यह सिद्ध नहीं कर सकते कि कौन-सा आसमान ऊपर है, कौन-सा आसमान नीचे, क्योंकि प्रमाण सिद्ध यह पृथिवी गोल है। इस गोल पृथिवी पर लगभग चारों और मानव आदि प्राणी रहते हैं।

जो मनुष्य भारत में रहते हैं, अर्थात् पृथिवी के ऊपरी भाग पर रहते हैं, उनका आसमान उनके सिर के ऊपर और जो मनुष्य अमेरिका आदि देशों

में है, अर्थात् पृथिवी के निचले भाग में रहते हैं, उनका आकाश (आसमान) भारत आदि देश में रहने वालों की अपेक्षा विपरीत होगा अर्थात् भारत वालों के पैरों में आकाश होगा। ऐसा ही पृथिवी के अन्य स्थानों पर रहने वाले मनुष्यों का आकाश जाने । पृथिवी के चारों ओर आकाश है, आसमान है, पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों के सिर जिस ओर होंगे, उनका आसमान उसी ओर होगा। ऐसा विचार करने पर जो परमात्मा को आसमान में मानते हैं, वे भी एक स्थान विशेष पर सिद्ध नहीं कर सकते। इस विचार से भी परमात्मा सर्वत्र ही सिद्ध होगा, इसलिए परमात्मा सब स्थानों पर विद्यमान है, न कि किसी एक स्थान विशेष पर।

स्थान विशेष की कल्पना ब्रह्माकुमारी मत वालों की भी है। उनका कहना है कि यदि ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हैं तो ईश्वर गन्दगी में शौच आदि में भी होगा, यदि ऐसा होगा तो ईश्वर भी गन्दा हो जायेगा। इन ब्रह्माकुमारी वालों ने ईश्वर को कितना कमजोर बना दिया? इन ब्रह्माकुमारी वालों को यह नहीं पता कि यह गंदगी भौतिक है और ईश्वर अभौतिक। परमेश्वर के अभौतिक और सदा पवित्र होने से परमेश्वर के ऊपर इस गंदगी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हमारे ऊपर भी जो प्रभाव पड़ता है, वह इसलिये क्योंकि हमारे पास भौतिक शरीर इन्द्रियाँ आदि हैं, इनसे रहित होने पर हम जीवात्माओं पर भी उस गंदगी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ईश्वर तो सर्वथा इनसे रहित है तो ईश्वर पर इस गंदगी का प्रभाव कैसे पड़ेगा? इसलिए मलिनता से बचाने के लिए ईश्वर को एक स्थान विशेष पर मानना अज्ञानता ही है।

इसी प्रकार ईश्वर किसी काल विशेष में होता हो ऐसा नहीं है, परमेश्वर तो सदा सभी कालों में वर्तमान रहता है। काल विशेष में होने की कल्पना अवतारवादी कर सकते हैं, जो कि उनकी यह मान्यता सर्वथा असंगत है। वर्तमान, भूत एवं भविष्यकाल की आवश्यकता हम जीवों की अपेक्षा से

है। परमेश्वर के लिए तो सदा वर्तमान रहता है, भूत-भविष्य परमात्मा के लिए नहीं है। परमात्मा सदा एक रस रहता है।

परमात्मा किसी जीव विशेष को किसी समुदाय विशेष की रक्षा वा दुष्टों के नाश के लिए भेजता हो- ऐसा भी नहीं है। यह कल्पना भी अवतारवादियों की है। परमात्मा तो जीवों के कर्मानुसार उनको जन्म देता है। जो जीव विशेष संस्कार युक्त होते हैं, वे जगत् के कल्याण और दुष्टों के नाश में प्रवृत्त होते हैं। ऐसा करने पर परमात्मा उनको आनन्द-उत्साह आदि प्रदान करता है, किन्तु ऐसा कदापि नहीं है कि परमात्मा ने किसी जीव विशेष को इस कार्य में लगााया हो। यदि ऐसा मानेंगे तो जीव की स्वतन्त्रता न रहेगी। ऐसा मानने पर सिद्धान्त की हानि होगी। कर्म फल व्यवस्था की सिद्धि ठीक से न हो पायेगी। यदि कोई आत्मा किसी समुदाय की रक्षा करे तो दोष की भागी हो जायेगी, क्योंकि ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि पूरे समुदाय में सभी लोग एक जैसे धर्मात्मा हो, उस समुदाय में उलटे लोग भी हो सकते हैं। समुदाय में होने से उनकी भी रक्षा करनी पड़ेगी जो कि न्याय न हो सकेगा। परमेश्वर न्यायकारी है, उसके द्वारा भेजी गई आत्मा को भी न्याय करना चाहिए जो कि वह कर न सकेगी।

अधिकतर लोगों की मान्यता है कि परमेश्वर किसी आत्मा को न भेजकर स्वयं अवतार लेते हैं । ऐसा करके परमात्मा सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का नाश करते हैं। इस प्रकार की मान्यता भी ईश्वर स्वरूप से विपरीत, वेद-शास्त्र के प्रतिकूल है, क्योंकि ईश्वर विभु है, अनन्त है, वह अनन्त प्रभु एक छोटे से सान्त शरीर में कैसे आ सकता है? परमेश्वर जन्म मरण से परे है, फिर शरीर में आकर जन्म-मृत्यु को कैसे प्राप्त कर सकता है? परमेश्वर का अवतार मानने पर इस प्रकार की अनेक दोषयुक्त बातों को मानना पड़ेगा।

अवतारवादियों का अवतार मानने का मुख्य आधार ये दो श्लोक हैं-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

इन श्लोकों में अवतार लेने का कारण बताया कि जब-जब धर्म की हानि होगी, तब-तब धर्म के उत्थान और अधर्म के नाश के लिए तथा श्रेष्ठों के परित्राण =रक्षा और दुष्टों के नाश के लिए ईश्वर अवतार लेता है। अब यहाँ विचारणीय यह है कि जिस परमात्मा ने बिना शरीर के इस सब ब्रह्माण्ड को रच डाला, हम सब प्राणियों के शरीरों की रचना की है, उस परमात्मा को कुछ क्षुद्र, दुष्ट व्यक्तियों को मारने के लिए शरीर धारण करना पड़े, यह बात बुद्धिग्राह्य नहीं है। इससे तो ईश्वर का ईश्वरत्व न रहकर ईश्वर का बहुत लघुत्व सिद्ध हो रहा है। यदि परमात्मा को यही करना है तो वह इस प्रकार के कार्य बिना शरीर के भी कर सकता है, क्योंकि वह पूर्ण समर्थ है।

गीता के उपरोक्त श्लोकों में अवतार का कारण हमने देखा, अब देवी भागवत पुराण में अवतार लेने का कारण देखिये। वहाँ लिखा है-

शपामि त्वां दुराचारं किमन्यत् प्रकरोमिते।
विधुरोहं कृतः पाप त्वयाऽहं शापकारणात्।।
अवतारा मृत्युलोके सन्तु मच्छापसंभवाः।
प्रापो गर्भभवं दुःख भुक्ष्व पापाज्जनार्दन।।

देवी भागवत के इन श्लोकों में अवतार का कारण धर्म की रक्षा वा अधर्म के नाश करने के लिए नहीं कहा, अपितु भृगु का शाप कहा है। अर्थात् महर्षि भृगु ने विष्णु को दुराचार कर्म के कारण शाप दिया, उनके शाप के प्रभाव से विष्णु का मृत्यु लोक में अवतार हुआ। गीता के और देवी भागवत पुराण में अवतार के कारणों में परस्पर विरोध है। और देखिये-

बौद्धरूपस्त्वयं जातः कलौ प्राप्ते भयानके।

× × ×

वेदधर्मपरायन् विप्रान् मोहयामास वीर्यवान्।
निर्वेदा कर्मरहितास्त्रवर्णा तामासान्तरे ।।

यहाँ गीता से सर्वथा विपरीत अवतार का कारण कहा है। गीता धर्म की रक्षा को कारण कहती है और यहाँ तो धर्म के नाश के लिए अवतार ले लिया, अर्थात् भागवत पुराण कहता है- भगवान ने बुद्ध का अवतार लेकर, सबको विरुद्ध उपदेश देकर नास्तिक बनाया तथा वेद मार्ग का नाश किया। यहाँ ये अवतारवादियों के ग्रन्थ परस्पर विरुद्ध कथन कर रहे हैं।

यथार्थ में तो ईश्वर के किसी भी रूप में जन्म धारण करने की कल्पना ही युक्ति व शास्त्र विरुद्ध है, क्योंकि ईश्वर को किसी भी प्रकार के सहारे की आवश्यकता नहीं, चाहे वह सहारा किसी शरीर का हो अथवा किसी अन्य प्राणी का। परमेश्वर अपने सब कार्य करने में समर्थ है, उसको कोई अवतार लेने की आवश्यकता नहीं है।

वेद में ईश्वर को ''**अकायमव्रणमस्नाविरम्**'' कहा है। वह परमात्मा सूक्ष्म और स्थूल शरीर के बन्धन से रहित है, अर्थात् इन बन्धनों में नहीं पड़ता। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ऋषि ने कहा-

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्।।

- ४.२१

अर्थात् वह परमात्मा अजर है, पुरातन (सनातन) है, सर्वान्तर्यामी है, विभु और नित्य है। ब्रह्मवादी सदा उसका बखान करते हैं। वह कभी जन्म नहीं लेता।

उपरोक्त सभी प्रमाणों से सिद्ध हो रहा है कि परमात्मा जीव के कर्मानुसार उसके भोग के लिए शरीर स्थान, समुदाय आदि देता है न कि अपनी इच्छा से किसी का नाश वा रक्षा के लिए उसको भेजता है और ऐसे

ही स्वयं भी अवतार लेकर कुछ नहीं करता, अर्थात् स्वयं शरीर धारण करके किसी की रक्षा वा नाश नहीं करता।

(ख) ईश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का अर्थ यह नहीं कि वह कुछ भी करे वा सब कुछ करे। तात्पर्य यह है कि ईश्वर सब कुछ नहीं कर सकता। वह इसलिए, क्योंकि वह शुद्ध पवित्र है, सर्वज्ञ है, सदा अपने नियमों का पालन करने वाला है।

इस विषय में महर्षि दयानन्द प्रश्नोत्तर रूप से लिखते हैं-

"**प्रश्न**- ईश्वर सर्वशक्तिमान् है वा नहीं? **उत्तर**- है, परन्तु जैसा तुम 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ जानते हो वैसा नहीं, किन्तु सर्वशक्तिमान् शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता, अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही अपना सब काम पूर्ण कर लेता है।"

प्रश्न- हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर जो चाहे सो करे, क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं?

उत्तर- वह क्या चाहता है? जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है, तो हम तुमसे पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान् हो चोरी, व्याभिचारादि पाप कर्म कर और दुःखी भी हो सकता है? जैसे ये काम ईश्वर के गुण कर्म-स्वभाव के विरुद्ध हैं, तो जो तुम्हारा कहना है कि 'वह सब कुछ कर सकता है' यह कभी नही घट सकता, इसलिए सर्वशक्तिमान् का अर्थ जो हमने कहा, वही ठीक है।"

यहाँ पर महर्षि की इन बातों से स्पष्ट है कि ईश्वर अपने गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध कभी कुछ नहीं करता, नहीं कर सकता।

अवैदिक मान्यता वाले पौराणिक अथवा कुरान, बाइबिल वाले ईश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का अर्थ वह करे न करे, कुछ भी करे- ऐसा मानते

हैं। जब ईसाई और मुसलमान ईसामसीह या मुहम्मद साहब पर अपना ईमान लाने की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य यह होता है कि पैगम्बर की सिफारिश करने पर खुदा ईमानवालों के गुनाह माफ कर देता है, क्योंकि वह जो चाहे कर सकता है, वह गुनाहगारों को माफ भी कर सकता है और बेगुनाहों को सजा भी दे सकता है। इनकी मान्यता है कि जब हम मामूली इन्सान किसी की गलती को माफ कर सकते हैं, तो हमसे बड़ा खुदा क्यों नहीं कर सकता? वे यह नहीं समझते कि ईश्वर का बड़प्पन कानून=सृष्टि के नियमों को तोड़ने में नहीं, अपितु स्वयं उनका पालन करने और अन्यों से कराने में है। यदि नियामक ही नियमों का उल्लंघन करने लगे तो वह नियामक ही कहाँ रहा?

इसलिए परमेश्वर ने जो सृष्टि के आदि में संविधान बना दिया, उसका उल्लंघन न स्वयं करता, कर सकता और न उसकी प्रजा करती, कर सकती। सृष्टि विपरीत परमात्मा कुछ भी नहीं करता, कर सकता। इसलिए यह कहना सर्वथा असंगत है कि "ईश्वर सब कुछ कर सकता है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है।"

(ग) आपके इस प्रश्न का उत्तर समाधान **(क)** में अधिकतर आ चुका है, फिर कुछ और लिखते हैं। परमेश्वर अपनी इच्छा मात्र से किसी को कुछ नहीं देता। जो कुछ परमात्मा हमें देता है उसके लिए हमारी पात्रता होती है। जीवों के कर्मों के बिना परमेश्वर धन, बल, प्रतिष्ठा, सफलता आदि नहीं दे सकता। यह सब हम जीवों के पुरुषार्थ व प्रारब्ध के आधार पर परमात्मा प्रदान करता है।

यदि परमात्मा अपनी इच्छा से (जीवों के कर्मों की अपेक्षा किये बिना) किसी को सुख अथवा दुःख देने लग जाये तो परमात्मा न्यायकारी सिद्ध न हो पावेगा। परमात्मा का न्याय इसी में है कि जिसके जैसे कर्म, पुरुषार्थ है उसको वैसा ही फल प्रदान करना।

वेद

जिज्ञासा १ – कुछ विद्वान् वेदों का काल पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर २००० या ३००० ईसा पूर्व ही मानते हैं, क्या यह ठीक है? और मैक्समूलर ऋग्वेद को दुनिया के पुस्तकालयों की सबसे पुरानी पुस्तक मानता है, क्या मैक्समूलर की यह मान्यता ठीक है? क्या हम आर्यों को भी इसी के अनुसार मानना चाहिए? कृपया, मार्गदर्शन करें।

– अनिरुद्ध आर्य, दिल्ली

समाधान– वेदों का काल जबसे मानवोत्पत्ति हुई है, तभी से है। आज इस काल को महर्षि दयानन्द के अनुसार १ अरब ९६ करोड़ ८ लाख ५३ हजार ११५वाँ वर्ष (२०१४ के अनुसार) चल रहा है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई वेदों की काल गणना ठीक नहीं है, क्योंकि इनके द्वारा की गई काल गणना निराधार, पक्षपात पूर्ण और कपोलकल्पना मात्र है। इस गणना के लिए इन विद्वानों के पास कोई ठोस प्रमाण नहीं है। जब हमारा लाखों वर्ष पुराना इतिहास सप्रमाण हमें प्राप्त हो रहा है, तब हम इनकी कुछ हजार वर्ष पूर्व की बात कैसे स्वीकार कर लें? हाँ, इनकी बात को वह स्वीकार कर सकता है जो अपने ऋषियों, महापुरुषों से प्रभावित न होकर, पाश्चात्य संस्कृति व विद्वानों से प्रभावित रहा हो।

कुछ लोगों की निराधार व अल्पज्ञान भरी बात है कि ऋग्वेद की रचना सबसे पहले हुई और इसके बाद अन्य वेदों की। ऐसी मान्यता वाले लोग अथर्ववेद को तो ऋग्वेद से बहुत बाद का मानते हैं। इस बात का भी उनके पास कोई ठोस प्रमाण नहीं है।

हमारे ऋषियों के अनुसार चारों वेदों का काल एक ही है, एक ही साथ एक ही समय परमेश्वर ने ४ ऋषियों के हृदयों में चारों वेदों का अलग-अलग ज्ञान दिया, अर्थात् अग्नि ऋषि को ऋग्वेद का, वायु ऋषि को यजुर्वेद का, आदित्य ऋषि को सामवेद का और अङ्गिरा ऋषि को अथर्ववेद

का ज्ञान दिया। ऋषियों ने ऐसा कहीं नहीं लिखा कि चारों वेदों की उत्पत्ति अलग-अलग समय में हुई। हमें वेद व ऋषियों के अनेक प्रमाण प्राप्त हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि चारों वेद एक ही समय में उत्पन्न हुए। जैसे-

यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः। -अथर्व. ४.३५.६

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयोग्नयः।

-अथर्व. १९.९.१२

इन दोनों मन्त्रों में वेद शब्द का बहुवचनान्त वेदाः शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह वेदाः शब्द चारों वेदों का संकेतक है।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।

-ऋ. १०.९०.९, यजु. ३१.७

यस्मिन्नृचः साम यजुंषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथानाभाविवाराः। -यजु. ३४.५

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्-
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।।

-अथर्व. १०.७.२०

स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च।

-यजु. १८.२९

ऋचो नामास्मि यजुंषि
नामास्मि सामानि नामास्मि। -यजु. १०.६७

स उत्तमां दिशमनुव्यचलत्।।
तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्।।

-अथर्व. १५.६.७-८

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्

यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ।।

श.ब्र. १४.५.४.१० व बृहद्.उप. ३४.१०

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ।

– मु. ५.१.१.५

इत्यादि अनेक वेद व ऋषियों के प्रमाण सिद्ध करते हैं कि चारों वेदों का काल एक ही है।

आप मैक्समूलर की मान्यता के विषय में भी जानना चाहते हैं कि उनकी मान्यता ठीक है या नहीं। मैक्समूलर ने तथाकथित भाषाशास्त्र के आधार पर वेदों के रचना काल की सम्भावना सर्वप्रथम १८५९ ई. में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ एशियट संस्कृत लिटरेचर' में की थी। उनकी यह कालावधि किसी तथ्य पर आश्रित न होकर विशुद्ध कल्पना पर अवलम्बित थी, किन्तु यह मान्यता इतनी बार दुहरायी गयी कि परवर्ती समय में आधुनिक इतिहासकारों में बिना सोचे-समझे स्थापित-सी मानी जाने लगी, लेकिन स्वयं मैक्समूलर ने १८८९ में 'जिफोर्ड व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत अपने इस मत पर सन्देह प्रकट किया था और ह्विटनी जैसे पाश्चात्य व प्रो. कुञ्जन राजा प्रभृति भारतीय इतिहासकारों ने भी मैक्समूलर के भाषाशास्त्र के आधार पर वेदों के काल सम्बन्धी मत का जोरदार खण्डन किया था। दूसरा जो मैक्समूलर ऋग्वेद को दुनिया की सबसे पुरानी पुस्तक कहता है, उसकी यह बात वेदों की रचना के सम्बन्ध में भ्रम पैदा करने के उद्देश्य से कही गई प्रतीत होती है। ऋषियों-महर्षियों के आधार पर आर्यसमाज की दृढ़ मान्यता के विपरीत ये वेदों का क्रमिक विकास सिद्ध करते हैं, जिससे वेद ईश्वरीय रचना न होकर मानवीय रचना सिद्ध हो सके।

इस सारे प्रसंग को मैक्समूलर की इन मान्यताओं के सन्दर्भ में भी देखा जाना चाहिए कि वह वेदों को बाइबिल से निचली श्रेणी का मानता है।

कैथोलिक कॉमनवैल्थ के दिये गये एक साक्षात्कार में यह पूछे जाने पर कि विश्व में कौन-सा धर्मग्रन्थ सर्वोत्तम है, तो मैक्समूलर ने कहा-

"There is no doubt, however, that ethical teachings are far more prominent in the old and New Testament than in any other sacred book." He also said "It may sound prejudiced, but talking all in all, I say the New Testament. After that, I should place the Quran which in its moral teachings is hardly more than a later edition of the New Testament. Then would follow.... according to my opinion, the Old Testament, The southern Buddhist Tripitika..... The Veda and the Avesta." (LLMM, Vol. II, PP. 322-323)

अर्थात् ''इसमें कोई सन्देह नहीं कि यद्यपि किसी भी अन्य 'पवित्र पुस्तक' की अपेक्षा (ईसाइयों के धर्म ग्रन्थ) ओल्ड और न्यू टेस्टामेंट में नैतिक शिक्षायें प्रमुखता से विद्यमान् हैं। उसने यह भी कहा- यह भले ही पक्षपातपूर्ण लगे, लेकिन सभी दृष्टियों से मैं कहता हूँ कि न्यू टेस्टामेंट सर्वोत्तम है। इसके बाद मैं कुरान को कहूँगा जो कि अपनी नैतिक शिक्षाओं में न्यू टेस्टामेंट के नवीन संस्करण के लगभग समीप है। उसके बाद..... मेरे विचार से ओल्ड टेस्टामेंट (यहूदियों का धर्मग्रन्थ), दी सदर्न बुद्धिस्ट त्रिपिटिका, (बौद्धों का धर्मग्रन्थ) फिर वेद और अवेस्ता (पारसियों का ग्रन्थ) है।''

अतः आर्यों को वेद के सन्दर्भ में मैक्समूलर जैसे लोगों के मत को उद्धृत करने से बचना चाहिए। इसके स्थान पर ऋषियों-महर्षियों के मत को रखना चाहिए। लेकिन अगर कोई आर्य वेदों की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए मैक्समूलर को इस रूप में उद्धृत करता है कि 'मैक्समूलर भी वेदों

की प्राचीनता के प्रसंग में एक सत्य को अस्वीकार न कर सका, उसे भी ऋग्वेद को प्राचीनतम पुस्तक स्वीकार करना पड़ा' इस रूप में बात रखी जा सकती है।

जिज्ञासा २- परमपिता परमात्मा ने वेदों का ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में ४ ऋषियों-अग्नि, आदित्य, वायु व अंगिरा को दिया था, किन्तु वेद में मन्त्र के समय (ऊपर) ऋषि छाप दिया जाता है, क्या कारण है? कृपया, स्पष्ट करने की कृपा करें।

कृष्ण गोपाल मेहरोत्रा आर्य, वार्ड नं. १, रनकपुर (चम्पावत) उत्तराखण्ड

समाधान - वेद मन्त्र के साथ ऋषि दिया जाता है, वह क्यों? इसके उत्तर में महर्षि दयानन्द ने जो लिखा है, उसको यहाँ उद्धृत कर रहे हैं, उससे आपका समाधान हो जायेगा। ऋषि लिखते हैं, ''ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे। फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ, जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, **उस-उस का नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा गया है।** इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिए पूर्ण उपकार किया है, **इसलिए विद्वान् लोग वेद मन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।**'' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्रश्नोत्तर विषयः।

वेद मन्त्र के साथ ऋषि लिखने का उपरोक्त महर्षि की मान्यता के अनुसार यह अभिप्राय है कि इतिहास की दृष्टि से हमें ज्ञात रहे कि किन मन्त्रों, सूक्तों का अर्थ प्रथम बार किन ऋषियों ने प्रकाशित किया था। उसकी जानकारी के लिए मन्त्र के साथ ऋषि लिखा होता है।

जिज्ञासा ३- हम वेदमन्त्रों को पढ़ते हैं। उनके अर्थ भावार्थ भी पढ़ते

हैं, परन्तु हमें यह पता नहीं चलता कि इस वेदमन्त्र का ऋषि कौन है, देवता कौन है, छन्द कौन-सा है? इसका ज्ञान नहीं है। आपसे प्रार्थना है कि गायत्री मन्त्र का छन्द तो गायत्री है, परन्तु इसका ऋषि और देवता बताने की कृपा करें। ऐसे ही विश्वानि देव प्रार्थना मन्त्र का ऋषि व देवता और छन्द भी बता देंवे। मन्त्र का ऋषि व देवता वेदमन्त्र में ही होता है, परन्तु हमें पता नहीं चलता- इसका भी ज्ञान दे दें।

- देवराज आर्यमित्र, डब्ल्यू ज़ेड-४२८, हरि नगर, नई दिल्ली-६४

समाधान- वेदमन्त्र के छन्द, देवता, ऋषि प्रायः वेद संहिताओं अथवा वेदभाष्यों में उपलब्ध होते हैं, उससे इनका ज्ञान किया जा सकता है। देवता और ऋषि अर्थात् मन्त्र का विषय और उस मन्त्र को साक्षात् करने वाला- ये वेद संहिता में सूक्त अथवा अध्याय का प्रारम्भ होने से पहले मिलते हैं। मन्त्र का देवता प्रायः मन्त्र में मिल जाता है- अनेक बार सीधे-सीधे शब्दों में अथवा उसके पर्यायवाची शब्दों के द्वारा। आपने लिखा, 'ऋषि और देवता वेदमन्त्र में ही होता है।' सो ठीक नहीं, क्योंकि देवता तो मन्त्र में होता है, किन्तु ऋषि मन्त्र में नहीं होता। ऋषि तो उस मन्त्र के अर्थ का द्रष्टा होता है, उस द्रष्टा ऋषि का नाम मन्त्र के साथ इतिहास की दृष्टि से लिखा आ रहा है कि प्रथम बार इस नाम के ऋषि ने अमुक मन्त्र को साक्षात् किया था। अनेक मन्त्रों में ऋषि का नाम दिखता है, यथार्थ में वह नाम उस ऋषि का वास्तविक नाम नहीं होता, अपितु उस मन्त्र का साक्षात् करने के कारण गौणिक नाम होता है। उस गौणिक नाम को देखकर कुछ लोग मानते हैं कि मन्त्र में ही ऋषि होता है, सो उचित नहीं है।

छन्द ज्ञान के लिए तो छन्द शास्त्र को पढ़ना-जानना पड़ेगा, तभी छन्द को जान पायेंगे। गायत्री मन्त्र वेद में अनेक स्थान पर आया है। इस मन्त्र का सविता देवता और निचृद् गायत्री छन्द सब स्थान पर एक जैसा है।

ऋषि भिन्न हैं- यजु. ३६.३ व ३.३५ का ऋषि विश्वामित्र और यजु. ३०.२ का ऋषि नारायण है। ऐसे ही विश्वानि देव मन्त्र का देवता सविता और छन्द गायत्री है, किन्तु ऋषि इसके भी भिन्न-भिन्न हैं। यजु. ३०.३ का विश्वामित्र और ऋ. ५.८२.५ का श्यावाश्वात्रेय ऋषि है।

जिज्ञासा ४ - (क) कृपया, सामवेद का सन्दर्भ ग्रहण करने की कृपा करें। मेरी शंका है कि सामवेद में अनेक मन्त्र ऐसे हैं जो कि दो बार छपे हैं। क्या मन्त्रों की संख्या बढ़ाने का उद्देश्य रहा है या कोई और कारण? उदाहरण के लिये -

मन्त्र संख्या १११३ - यही मन्त्र (ऋषि व देवता भी वही) मन्त्र संख्या ४४६ पर है।

मन्त्र संख्या १११४ - यही मन्त्र (ऋषि व देवता भी वही) मन्त्र संख्या ४४५ पर है।

मन्त्र संख्या १११५ - यही मन्त्र (ऋषि व देवता भी वही) मन्त्र संख्या ४४४ पर है।

मन्त्र संख्या १११६ - यही मन्त्र (ऋषि व देवता भी वही) मन्त्र संख्या ५२४ पर है।

मन्त्र संख्या ११३७ - यह मन्त्र पुनः ४९८ पर है।

मन्त्र संख्या ११४० - यह मन्त्र पुनः ६७ पर है।

मन्त्र संख्या ११५२ - यह मन्त्र पुनः ५५७ पर है।

आखिर क्या कारण है कि एक ही ऋषि, एक ही देवता आदि दो-दो बार वेद में आये हैं। स्पष्ट करने की कृपा करें।

(ख) प्रत्येक वेद में मन्त्र के साथ उसका ऋषि, देवता, छन्द, स्वर आदि दिया गया है तथा वेद भाष्य कर्ता का नाम वेद के साथ दिया गया है, किन्तु ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद में मुझे किसी ऋषि- अग्नि, अंगिरा, आदित्य या वायु नाम नहीं लिखा हुआ दिखा, जबकि

इन्हीं ऋषियों को वेद ज्ञान ईश्वर ने प्रदत्त किया।

सर्व साधारण के ज्ञान के लिये प्रत्येक वेद के साथ उसके द्रष्टा ऋषि का नाम अवश्य ही वेद पर मोटे अक्षरों में दिया जाना चाहिये।

मेरी भूल भी हो सकती है जो कि मेरी समझ में न आ पाई हो। कृपया, सुधार कर ज्ञान प्रदान करें।

- कृष्ण गोपाल, मन्त्री, आर्यसमाज टनकपुर, चम्पावत, उत्तराखण्ड

समाधान (क) - परमेश्वर के द्वारा किया गया वेदोपदेश हम जीवात्माओं के लिए परम प्रमाण है। ऋषियों ने वेद को स्वतः प्रमाण कहा है। वेद का प्रत्येक मन्त्र, प्रत्येक पाद, प्रत्येक शब्द सार्थक है, सप्रयोजन है, विशेष आशय को लिए हुए है।

वैदिक संहिताओं का अध्ययन करते हुए कई अन्य समस्याओं के समान पुनरुक्त की समस्या भी हमारे सामने आती है। जब एक मन्त्र को एक ही वेद में एक से अधिक बार आया हुआ देखते हैं या उस मन्त्र को अन्य वेदों में भी पाते हैं तो स्वभावतः हमारे मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा क्यों है और अनेक लोग इसको पुनरुक्त दोष समझने लगते हैं। ऐसा ही आशय आपका भी प्रतीत हो रहा है।

'वेदों में पुनरुक्त दोष नहीं है' इस विषय पर विद्वानों ने बहुत लिखा है। उन्हीं विद्वानों के आधार पर हम यहाँ कुछ लिखते हैं।

वेदों में पुनर्कथन के कई प्रकार हैं। जैसे- १. कहीं-कहीं सम्पूर्ण सूक्त का पुनर्कथन हुआ है। जैसे ऋग्वेद का १०.१० यम-यमी सूक्त कहलाता है। यह सम्पूर्ण सूक्त अथर्ववेद १८.१ में भी है। ऋग्वेद का १०.१५४ के पाँच मन्त्र भाववृत्त सूक्त है, यह बहुत कम परिवर्तन के साथ अथर्ववेद १८.२ में भी आया है। ऋग्वेद का १०.९५ सोम सूर्या सूक्त या विवाह सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है, यह सम्पूर्ण सूक्त थोड़े से क्रमादि भेद के साथ

अथर्ववेद १४.१ में आया है। ऋग्वेद का पुरुष सूक्त १०.९० कुछ परिवर्तन के साथ यजुर्वेद अध्याय ३१ तथा अथर्ववेद १९.६ में भी है और इसके कुछ मन्त्र सामवेद में पूर्वार्चिक के आरण्य पर्व में भी हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य सूक्त भी हो सकते हैं।

२. कहीं-कहीं पूरा सूक्त पुनरुक्त न होकर उसके २, ३ या अधिक मन्त्र उसी क्रम से उसी वेद में या अन्य वेदों में आये हैं। जैसे ऋग्वेद के ४.३१ के पहले तीन मन्त्र-

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा।
कया शचिष्ठया वृता।।१।।
कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृळ्हा चिदारुजे वसु।।२।।
अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्।
शतं भवास्यूतिभिः।।३।।

इसी क्रम से यजुर्वेद में अध्याय २७.३९-४१, अध्याय ३६.४-६ दो स्थानों पर हैं। सामवेद में उत्तरार्चिक, प्रथम प्रपाठक के तृतीय खण्ड में और अथर्ववेद में काण्ड २० सू. १२४.१-३ में आये हैं।

३. कहीं अकेला १ मन्त्र ही पुनरुक्त हुआ है, जैसे- **तत् सवितुर्वरेण्यम्** आदि। यह मन्त्र गायत्री मन्त्र नाम से प्रसिद्ध है। यह मन्त्र ऋग्वेद और सामवेद में एक-एक बार और यजुर्वेद में तीन बार आया है- ऋ ३.६२.१०, यजु. ३.३५, २२.९, ३०.२, साम.उ.प्र. ६.६.३। यदि यजुर्वेद के ३६.३ को भी गिन लें तो यह मन्त्र यजुर्वेद में चार बार आया है। वहाँ पर **भूर्भुवः स्वः** अधिक पढ़ा गया है। ऐसे पुनरुक्त मन्त्र बहुत अधिक मात्रा में हैं।

४. कहीं पूरा मन्त्र पुनरुक्त न होकर उसका कुछ अंश पुनरुक्त होता है। यह अंश तीन चरण, दो चरण, एक चरण, एक चरण से कम और एक दो या तीन चरणों से अधिक भी हो सकता है। जैसे- ऋग्वेद १.२९.१

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि।

आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ।।

इस मन्त्र का उत्तरार्ध इस सूक्त के सातों मन्त्रों में आया है। ऋ. १.९७ वें सूक्त में प्रत्येक मन्त्र में '**अप नः शोशुचदघम्**' की आवृत्ति हुई। ऐसी ही अन्य स्थलों पर भी पुनरावृत्ति मिलती है।

५. एक ही भाव अनेक बार पुनरुक्त हुआ है, भले भाषा भिन्न हो। जैसे इन्द्र वृत्रों का संहारक, ऐश्वर्यशाली, बहुत दानी और सोमरस का पीने वाला है; अग्नि देवों का दूत, ज्योतिष्मान्, हवि का भक्षण करने वाला एवं दाश्वान् का हित करने वाला है; उषा द्युलोक की पुत्री, ज्योतिष्मती तथा अन्धकार को उच्छिन्न करने वाली है- इत्यादि भाव वेदों में बार-बार आते हैं। कोई कह सकता है कि एक भाव को एक ही बार कहना पर्याप्त था।

इस प्रकार की पुनरुक्तियाँ वेद में दृष्टिगोचर होती हैं। ये पुनरुक्तियाँ सर्वथा दोष रहित हैं। बिना प्रयोजन के निरर्थक पुनरुक्ति दोष पूर्ण मानी जाती है, किन्तु प्रयोजन युक्त सार्थक पुनरुक्ति दोषपूर्ण नहीं मानी जाती। वेद में जो भी पुनर्वचन मिलते हैं, वे सभी प्रयोजनयुक्त और सार्थक हैं।

सार्थक पुनरुक्ति के कारण- १. अर्थ का वैशिष्ट्य दिखाना, २. भिन्नार्थ को प्रकट करना, ३. काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तानुसार अलंकार की संयोजना करना, ४. किसी अर्थतत्त्व पर विशेष बल देना, ५. प्रकरण भेद से भिन्नार्थ का बोध करना, ६. किसी विशेष प्रकरण की ओर ध्यान आकृष्ट करना अथवा विशेष अर्थतत्त्व को अध्येता के मन पर अच्छे प्रकार जमा देना आदि अनेक कारण पुनरुक्ति के होते हैं। वेदों में एक बात को ठीक से समझाने के लिए, अर्थ विशेष को समझाने के लिए, प्रसंग भेद से भिन्न अर्थ का ज्ञान कराने के लिए, काव्य के सौन्दर्य के लिए पुनरुक्तियाँ हैं।

एक उपदेशक अपने जीवन काल में एक ही उपदेश को अथवा किसी कथा को स्थान भेद से वा प्रसंग विशेष पर हजारों बार करता है, उसका

वह उपदेश वा कथन हमें पुनरुक्त नहीं लगता। हम अपने जीवन में प्रत्येक दिन एक ही शब्द वा वाक्य को अनेक बार बोलते रहते हैं, वह हमें पुनरुक्त नहीं लगता। हम एक दिन में किसी व्यक्ति, स्थान या वस्तु का नाम न जाने कितनी बार लेते हैं, यह हमें पुनरुक्त नहीं लगता। पाणिनि अष्टाध्यायी को जानने वाले को 'बहुलं छन्दसि' सूत्र जो कि अष्टाध्यायी में इसी शब्दानुपूर्वी से १४ बार पढ़ा गया है, पुनरुक्त नहीं लगता। भाषा विज्ञान को ठीक-ठीक जानने वाला उपरोक्त कारणों से कहे गये पुनर्वचन को दोषयुक्त नहीं देखता, अपितु इस पुनर्वचन (पुनरुक्त) को आवश्यक समझता है।

जब हम इस प्रकार की पुनरुक्ति को सहजता से समझ लेते हैं, स्वीकार कर लेते हैं, तो वेद में आये पुनर्मन्त्रों को संशय की दृष्टि से नहीं देखते हैं, लेकिन हम वेद की शैली से परिचित नहीं हैं, वेद के अर्थगाम्भीर्य से, उसकी काव्य शैली से परिचित नहीं हैं। जैसे-जैसे यह परिचय बढ़ेगा, वैसे-वैसे हम वेद की पुनरुक्तियों को दोष रहित देखने में समर्थ होते जायेंगे।

आपने जो सामवेद के मन्त्र उद्धृत किये हैं, जो कि सामवेद के पूर्वार्चिक व उत्तरार्चिक दोनों में आये हैं, उनका दो बार आना मन्त्र संख्या को बढ़ाना उद्देश्य नहीं है, अपितु इसके पूर्वोक्त कारण हैं, भले ही इन मन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्द एक ही हों।

(ख) वेद मन्त्रों के द्रष्टा को ऋषि कहते हैं। जिन-जिन महापुरुषों ने वेद के मन्त्रों को प्रथम बार साक्षात् किया, अर्थात् उन मन्त्रों के अर्थ का प्रत्यक्ष किया, वे उन मन्त्रों के ऋषि कहलाये। उन्हीं ऋषियों के नाम, उनके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये मन्त्रों के साथ जुड़ गये, जो कि हमें आज परम्परा से वेद मन्त्रों के साथ उपलब्ध हो रहे हैं।

आपका कथन है कि अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ऋषियों के नाम वेद के साथ क्यों नहीं, जबकि परमेश्वर ने इन्हीं को प्रथम बार वेद का

ज्ञान दिया।

अग्नि आदि ऋषियों के नाम भले ही मन्त्रों के साथ न हों, किन्तु मूल वेद संहिताओं के साथ तो मोटे अक्षरों में मिलते ही हैं। किसी प्रकाशक से भूलवशात् छूट जायें तो पृथक् बात है। आप वेद भाष्य के साथ भी इन ऋषियों के नाम चाहते हैं। जैसे वेदभाष्य कर्त्ता का नाम मिलता है, वैसे वेद भाष्य की पुस्तक पर अङ्गिरा आदि ऋषियों का नाम भी हो- यह आपकी इच्छा है। ऐसा किया जा सकता है, यह बात भाष्य पुस्तक के सम्पादक, भाष्यकार और प्रकाशक पर निर्भर करती है। यदि वे इस पर ध्यान दें तो यह हो सकता है। आपको वेद भाष्य पुस्तकों पर आदित्य आदि ऋषियों के नाम नहीं मिले, इसका कारण यह कदापि प्रतीत नहीं हो रहा कि किसी दुर्भावना से उनके नाम नहीं दिये, अपितु इसलिए कि इस बात को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझा अथवा इस ओर ध्यान नहीं गया। वैसे भी वेद से सम्बन्ध रखने वाले लोग प्राय: जानते हैं कि कौन-सा वेद किस ऋषि से सम्बन्ध रखता है, उनके लिए इसकी आवश्यकता नहीं। हाँ, अन्य जन साधारण के लिए नाम लिखा जा सकता है। जिस ऋषि ने जिस वेद को प्राप्त किया उस ऋषि का नाम, प्राप्त हुए वेद के साथ मिलता है। उन ऋषियों ने परमेश्वर के अनुग्रह से पूरे वेद का ज्ञान प्राप्त किया, इसलिए एक-एक मन्त्र के साथ उनका नाम न होकर पूरी वेद संहिता के साथ उनका नाम मिलता है।

आपको बता दें कि जो मन्त्रों के साथ ऋषियों के नाम उपलब्ध हो रहे हैं, वे नाम प्राय: उनके वास्तविक न होकर गौणिक हैं। अनेक ऋषियों के नाम उनके गौत्र के आधार पर मिलते हैं और अनेक के मन्त्रार्थ को प्रत्यक्ष करने से अर्थात् उस मन्त्र के विषय के आधार पर व अनेक के मन्त्र में आये शब्द के आधार पर नाम मिलते हैं।

इस समाधान को लिखने में आचार्य रामनाथ जी वेदालंकार की पुस्तक

'आर्ष ज्योति' का मुख्य सहयोग लिया गया है।

जिज्ञासा ५ - मन्त्रों में अक्षरों के नीचे या ऊपर कुछ रेखाएँ होती हैं उनके क्या संकेत हैं? जैसे-

ओं (शन्नो) देवीरभिष्टयऽआ(पों)

- सोनाराम नेमधारी आर्यभूषण, कारोलिन, बेलडाट, मोरिशस

समाधान - मन्त्रों के ऊपर-नीचे जो रेखाएँ (' -) दिखाई देती हैं, वे स्वर चिह्न की रेखाएँ हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित- ये तीन स्वर होते हैं। इन स्वरों का अर्थ पर प्रभाव पड़ता है। दो शब्द एक जैसे दिखते हुए यदि उनमें स्वर का भेद है तो अर्थ का भेद भी होगा। जैसे स कर्त्ता, स कर्त्ता- इन दो वाक्यों में दो प्रकार के स्वर होने से दो ही प्रकार के अर्थ होते हैं। पहले का अर्थ है- वह अगले दिन करेगा और दूसरे वाक्य का अर्थ है- वह करने वाला पुरुष है। यह अर्थभेद स्वर के कारण हुआ, इसमें और भी कारण हैं। जहाँ मन्त्र के अंश में कोई चिह्न नहीं दिखता वह उदात्त, जहाँ (-) ऐसी रेखा हो वह अनुदात्त और जहाँ (') ये रेखा हो वह स्वरित का चिह्न कहलाता है। यह सब स्वरों के चिह्न ही हैं।

जिज्ञासा ६ - वेदों की प्रामाणिकता या सत्ता को नहीं मानने वाला क्या कोई व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त कर सकता है और ऋषि, महर्षि आदि कहला सकता है?

ईश्वर प्राप्ति से आशय 'मुक्ति' से है।

-मानवता, १९४, तीसरी मंजिल, पार्श्वनाथ नगर, सांगानेर अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा, जयपुर

समाधान - वेदों को न मानने वाला व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता और न ही ऋषि-महर्षि आदि कहला सकता, क्योंकि ईश्वर का विशुद्ध स्वरूप वेद में ही कहा गया है, अन्य किसी मत के ग्रन्थ में नहीं।

जब व्यक्ति ईश्वर के विशुद्ध स्वरूप को जानेगा ही नहीं तो वह मुक्त कैसे हो सकता है? क्योंकि वेद में कहा है-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

– य. ३१.१८।

अर्थात् किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है? उत्तर- उस महान् परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक-ठीक ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं। जो सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करने वाला और अविद्या-अन्धकार अर्थात् अज्ञानादि दोषों से रहित है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूँ। उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान नहीं हो सकता, क्योंकि उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म-मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है अन्यथा किसी प्रकार से मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता।

इसलिए जो ईश्वर को यथार्थ रूप से जानने वाला है, वह वेदों को अवश्य मानेगा। बिना वेद मन्त्रों के द्रष्टा होने के कोई ऋषि-महर्षि भी नहीं कहला सकता। ऋषि होने के लिए मन्त्र द्रष्टा बनना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि वेद को माने बिना व्यक्ति पूर्ण रूप से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता और न ही ऋषि कहला सकता।

जिज्ञासा ७ – सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में वर्णानुसार सन्तान-परिवर्तन की व्यवस्था दी है, परन्तु ऋग्वेद में इसका निषेध है-

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः।।

– ऋ. ७.४.८

इस स्थिति में शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि महर्षि जी ने किस आधार पर सन्तान-परिवर्तन की व्यवस्था दी है तथा अब समाधान कैसे

होगा ?

– इन्द्रजित् देव, चूना भट्ठिया, सिटी सैन्टर के निकट, यमुनानगर–१३५००१ (हरियाणा)

समाधान – आपकी जिज्ञासा, महर्षि के द्वारा वर्णित वर्णानुसार सन्तान होनी चाहिए, इस पर है। यदि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न क्षत्रिय गुण कर्म वाला पुत्र है तो वह क्षत्रिय वर्ण का कहलावे और ऐसा क्षत्रिय परिवार जिसका पुत्र ब्राह्मण गुण कर्म वाला है, वह ब्राह्मण वर्ण का कहावे। वे दोनों आपस में पुत्रों को बदल लें ऐसा अन्य वर्णों के लिए भी है। दूसरा, वेद में कहा कि अपने गोत्र में उत्पन्न को ही ग्रहण करे। इन दोनों स्थलों को देखने पर आपकी जिज्ञासा स्वाभाविक लगती है।

पहले हम यहाँ महर्षि के दोनों स्थलों को दे रहे हैं–

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ।।

–ऋ ७.४.८

पदार्थ– हे मनुष्य! जो (अरणः) रमण न करता हुआ (सुशेवः) सुन्दर सुख से युक्त (अन्योदर्य्यः) दूसरे के उदर से उत्पन्न हुआ हो (सः) वह (मनसा) अन्तःकरण से (ग्रभाय) ग्रहण के लिए (नहि) नहीं (मन्तवै) मानने और योग्य है (चित्, उ, पुनः इत्) फिर भी ही वह (ओकः) घर को नहीं (एति) प्राप्त होता है (अध) उसके अनन्तर जो (नव्यः) नवीन (अभीषाड्) अच्छा सहनशील (वाजी) विज्ञानवाला (नः) हमको (आ, एतु) प्राप्त हो।

भावार्थ– हे मनुष्यो! अन्य गोत्र में अन्य पुरुष से उत्पन्न हुए बालक को पुत्र करने के लिए नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वह घर आदि का दाय भागी नहीं हो सकता, किन्तु जो अपने शरीर से उत्पन्न वा अपने गोत्र से लिया हुआ हो वही पुत्र वा पुत्र का प्रतिनिधि होवे।

दूसरा स्थल सत्यार्थप्रकाश से है- "प्रश्न- जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो, वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाये तो उसके माँ-बाप की सेवा कौन करेगा और वंशच्छेदन भी हो जायेगा, इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिए? उत्तर- न किसी की सेवा का भंग और न वंशच्छेदन होगा, क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान, विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे, इसलिए कुछ भी अव्यवस्था नहीं होगी।" सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ४। इन दोनों स्थलों में विरोध दिख रहा है, यथार्थ में कोई विरोध नहीं है। वेद ऊँची स्थिति को कह रहा है और ऋषि आपत् स्थिति में एक अन्य विकल्प दे रहे हैं कि वेद के अनुसार यदि स्वगोत्र की सन्तान न मिल रही हो तो स्ववर्ण के गुण कर्म वाली सन्तान को अपना लें।

इस विषय में व अन्य प्रश्नों के उत्तर के लिए आर्यसमाज के योग्य विद्वान् **आचार्य आनन्द प्रकाश जी** (अलियाबाद, तेलंगाना) ने जो विचार हमें लिखकर दिये हैं वे हमें उचित लग रहे हैं, उनको यहाँ आपके समाधान हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं-

"**(१)** सबसे अच्छा तो वह है कि जो अपने वर्ण के गुण कर्मों से युक्त भी हो और आत्मज भी हो, अर्थात् अपने से उत्पन्न भी हो, क्योंकि बन्धु-बान्धवों में उससे किसी का विरोध नहीं होता, अर्थात् सबको वह स्वीकार्य होता है।

(२) यदि अपना पुत्र न हो, तो जो अपने गोत्र का अपने वर्ण के गुण कर्म से युक्त हो, उसे अपना सकते हैं।

(३) तीसरी स्थिति यह है कि यदि अपना वा अपने गोत्र में भी स्ववर्ण के योग्य न हो तो अपने गोत्र से भिन्न दूसरे की सन्तान अपने गुण कर्म से युक्त होने पर उसे अपना लेवें।" यह आपत् स्थिति है, श्रेष्ठ स्थिति तो पूर्व-पूर्व वाली है। यह इसलिए कि जो प्रश्न उठाया था- "जो किसी

के एक ही पुत्र....... सेवा कौन करेगा और वंशच्छेदन भी हो जायेगा...... ।''
इस स्थिति के लिए महर्षि ने यह व्यवस्था रखी है।

इस प्रकार से यदि दोनों स्थलों को देखेंगे तो जो विरोध दिख रहा है वह विरोध नहीं दिखेगा। फिर भी इस विषय में कोई इससे अच्छा समाधान करना चाहे तो उसका स्वागत है।

जिज्ञासा ८ - परमात्मा ने सृष्टि के आदि में वेद ज्ञान चार ऋषियों को ही क्यों दिया? सिर्फ १ या २ या ३ को देते तो नहीं चल सकता था क्या? केवल एक ही ऋषि के हृदय में चारों वेद नहीं समा सकते थे क्या? आप मेरी शंका का समाधान करने की कृपा करें।

- रणवीर आर्य, म.नं. ११-६६/४८५, अर्बन कॉलोनी,
भोंगीर, नलगोण्डा, तेलंगाना-५०८११६

समाधान- समूचे संस्कृत साहित्य में वेद का गरिमामय स्थान है। ऋषियों ने वेद को ही सर्वोच्च प्रमाण माना है, क्योंकि वेद साक्षात् परमेश्वर का ज्ञान है। इस आर्यावर्त्त देश में प्राचीन काल से धर्माधर्म का निर्णय वेद के आधार पर ही होता रहा है। महर्षि मनु उद्घोषणा करते हैं कि एक ओर वेदज्ञ अकेला हो और दूसरी ओर अवेदज्ञ हजारों, करोड़ों भी क्यों न हों, धर्मनिर्णय में वेदज्ञ ही प्रमाण है, वेदज्ञ की ही बात मान्य है-

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः।।

- मनु. १२.११३

महर्षि मनु वेद के विषय में यह भी कहते हैं-

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति।।

- मनु. १२.९७

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- ये चार वर्ण और इनकी

व्यवस्था, पृथ्वी, आकाश एवं द्युलोक अर्थात् समस्त लोक, ग्रह आदि, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास- इन चारों आश्रमों के पृथक्-पृथक् विधान और भूत, भविष्य, वर्तमान - इन तीनों कालों की सत्य विद्या- ये सब वेदों से ही प्रसिद्ध, प्रकट और ज्ञात होती हैं, अर्थात् इन सब व्यवस्थाओं और विद्याओं का ज्ञान वेदों के द्वारा ही होता है।

महर्षि की मान्यता है कि वेद का ज्ञाता ही सेनाओं का संचालन कर सकता है, राज्य का संचालन कर सकता है, न्याय व्यवस्था का संचालन कर सकता है और समस्त भूमण्डल के चक्रवर्ती राज्य तक का संचालन कर सकता है-

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।।

-मनु. १२.१००

ऐसा महर्षि मनु इसलिए मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में वेद सर्वज्ञानमय अर्थात् समस्त विद्याओं के भण्डार हैं। परम्परा से यद्यपि वेद और स्मृति- ये दोनों ही अपने-अपने स्थान पर प्रमाण हैं, फिर भी यदि दोनों की बातों में विरोध दिखता है तो वहाँ स्मृति को छोड़ वेद की बात मान्य है, क्योंकि वेद सर्वज्ञ परमेश्वर के द्वारा बनाये हुए हैं।

इस समस्त ज्ञान के भण्डार वेद के ज्ञान को आदि सृष्टि में परमात्मा ने चार ऋषियों को दिया। महर्षि अग्नि को ऋग्वेद का ज्ञान, महर्षि वायु को यजुर्वेद का ज्ञान, महर्षि आदित्य को सामवेद का ज्ञान व महर्षि अङ्गिरा को अथर्ववेद का ज्ञान दिया, क्योंकि ये ही उस समय की सबसे पवित्र आत्माएँ थीं। इन चार ऋषियों को दिये ज्ञान को देखकर आपकी जिज्ञासा है कि यह ज्ञान दो ऋषियों, तीन या एक ही को क्यों नहीं दे दिया गया? इस पर हमारा कहना है कि ऐसा हो सकता था कि दो, तीन या एक ही ऋषि को परमात्मा वेद का ज्ञान दे देते, किन्तु ऐसा होने पर फिर कोई जिज्ञासा करता कि वेद

तो चार हैं, इनका ज्ञान दो, तीन या एक ऋषि को ही क्यों दिया, चार को क्यों नहीं दिया? कितना अच्छा होता कि एक का लाभ न कर चार-चार का लाभ करता अथवा वेद के एक-एक मण्डल का ज्ञान, एक-एक काण्ड का अथवा एक-एक अध्याय का ज्ञान एक-एक अर्थात् भिन्न-भिन्न ऋषियों को क्यों नहीं दिया? यदि दे देता तो अधिकों का लाभ होता आदि अनेक जिज्ञासाएँ और कोई खड़ी कर सकता है। जैसी जिज्ञासा चार ऋषियों को ज्ञान देने पर बनी है, वैसी ही जिज्ञासा कोई दो, तीन अथवा एक ऋषि को ज्ञान देने पर भी कर सकता है।

इसलिए जैसी व्यवस्था परमेश्वर की बनाई हुई है सो ठीक है, अर्थात् यह परमेश्वर की ही व्यवस्था है कि जब-जब परमेश्वर आदि सृष्टि में वेद का ज्ञान देगा, तब-तब चार ऋषियों को देगा। उससे आगे इन्हीं चार ऋषियों से वेद की परम्परा चलेगी।

परमेश्वर की इस व्यवस्था को न मानने पर 'अशोक वाटिका न्याय' जैसी स्थिति होगी, अर्थात् रावण ने माता सीता को अशोक वाटिका में रखा था, अब कोई कहे कि अशोक वाटिका में न रखकर महल में क्यों नहीं रखा? यदि महल में रखा होता तो कोई कह सकता है कि कहीं अन्यत्र क्यों नहीं रखा? इसलिए वेदों का ज्ञान देने के विषय में भी इसी प्रकार समझें।

जिज्ञासा ९-

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ।।

अथर्व. ५.१.६

ज्ञानी महात्माओं ने सात मर्यादाएँ बनाई हैं, यदि मनुष्य उनमें से एक का भी उल्लंघन करता है तो वह पापी हो जाता है।

प्रश्न है- वे सात मर्यादाएँ कौन-सी हैं, जिनसे मनुष्य पापी हो जाता है? दूसरा जनेऊ को कान पर चढ़ाने की परम्परा का वैदिक आधार क्या

है?

मध्य प्रदेश, ऊना

समाधान- अथर्ववेद के मन्त्र में कही हुई सात मर्यादाएँ लिखने से पहले मर्यादा शब्द के अर्थ को देख लेते हैं। मर्यादा का अर्थ है- सीमा, छोर, किनारा, हद आदि। परमेश्वर ने सब जड़-चेतन को मर्यादाओं में बाँधा है। जो-जो भी अपनी मर्यादा में रहता है, वह-वह उन्नति करता है और जिसने मर्यादाओं का अतिक्रमण किया, उसने हानि को ही प्राप्त किया। परमेश्वर ने मनुष्य के लिए सात मर्यादाएँ कहीं हैं और उनका अतिक्रमण न करने का संकेत किया है। उन सात मर्यादाओं को महर्षि यास्क ने अपने ग्रन्थ निरुक्त में खोला है-

सप्तैव मर्यादाः कवयश्चक्रुस्तासामेकामप्यभिगच्छन्नंहस्वान् भवति,
स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं
दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति।

नि. ६.२७

अर्थात् सात मर्यादाएँ क्रान्तदर्शी ऋषियों ने सम्पूर्ण धर्म का विचार करके बनाईं, उनमें से एक का भी उल्लंघन करके मनुष्य पापवान् होता है-

१. स्तेयम्- चोरी, **२. तल्पारोहणम्**- दूसरे के बिस्तर पर चढ़ना अर्थात् व्यभिचार कर्म, **३. ब्रह्महत्याम्**- वेदपाठी धार्मिक ब्राह्मण की हत्या, **४. भ्रूणहत्याम्**- गर्भस्थ शिशु की हत्या, **५. सुरापानम्**- मद्यपान (नशा करना) **६. दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवाम्**- दुष्कृत कर्म का बार-बार सेवन, **७. पातकेऽनृतोद्यम्**- पाप करके झूठ बोलना। इन सात मर्यादाओं का संकेत वेद मन्त्र कर रहा है।

२. कान पर जनेऊ चढ़ाने की परम्परा का कोई वैदिक आधार पढ़ने-सुनने को नहीं मिला। ऐसा हो सकता है कि पहले के लोग उत्तरीय (ऊपर का वस्त्र) कम पहनते थे और जनेऊ कटि से नीचे रहा होगा। वस्त्र ऊपर

न होने से लघुशंका आदि करते समय जनेऊ नीचे भूमि पर टिक जाता होगा। वह नीचे न टिके- इसके लिए सुविधा की दृष्टि से कान पर चढ़ाना किया होगा। बाद में इसकी परम्परा ही चल पड़ी, जबकि आज उसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आजकल ऊपर पूरे वस्त्र धारण किये जाते हैं, जिससे जनेऊ नीचे टिकता ही नहीं है। जब नीचे टिकता ही नहीं है तो ऊपर कान पर चढ़ाने की क्या आवश्यकता है? हाँ, जिस किसी का जनेऊ नीचे टिकता है, वह उसको ऊपर कर सकता है।

जिज्ञासा १०- आचार्य जी! मैं तीन साल से अन्य द्वारा पूछे गये जिज्ञासा-समाधान पढ़-पढ़ कर उपकृत होता आया हूँ, लेकिन आज मेरे मन में भी एक जिज्ञासा है, समाधान चाहता हूँ।

यजुर्वेद के बारे में जानना था। प्रायः यजुर्वेद के बारे में शुक्ल और कृष्ण शब्दों का व्यवहार होता है, किन्तु मेरे पास जो वेद हैं, उसमें सिर्फ 'यजुर्वेद' लिखा हुआ है। कृष्ण-शुक्ल कुछ भी नहीं लिखा है। कोई पौराणिक पण्डित संकल्प पढ़ते समय 'शुक्ल यजुर्वेदाध्यायी' ऐसा भी पढ़ लेते हैं। शुक्ल और कृष्ण के बारे में स्पष्टीकरण देने की कृपा करें।

- रुद्र शास्त्री, गाँव- गोलमागाँव, पो.जि.- उदालगुरी, आसाम

समाधान - चारों वेदों में से यजुर्वेद दो प्रकार का मिलता है- शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। इसके इन दोनों नामों का कारण है कि शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र भाग है, अर्थात् इसमें मूल मन्त्र होने से शुक्ल (शुद्ध) वेद कहलाता है। कृष्ण यजुर्वेद विनियोग, मन्त्र व्याख्या आदि से मिश्रित होने के कारण मूल न होकर मिश्रित वा कृष्ण यजुर्वेद कहलाता है। मुख्य रूप से यही कारण शुक्ल और कृष्ण कहने का है।

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ वर्तमान में मिलती हैं- वाजसनेयि माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता। दोनों में चालीस अध्याय हैं, काण्व

संहिता का चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद् के रूप में प्रख्यात है। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ मिलती हैं- तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ कपिष्ठल शाखा।

महर्षि दयानन्द के अनुसार मूल वेद शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा है। इसी का महर्षि ने भाष्य किया है।

आपके प्रश्न का उत्तर तो इतने से ही है। इस विषय में पौराणिकों ने इन दोनों शुक्ल, कृष्ण को सिद्ध करने के लिए अपनी कथाएँ कल्पित कर रखी हैं। इन कल्पित कथाओं को छोड़ शुक्ल-कृष्ण का यथार्थ कारण उपरोक्त ही है।

अब यजुर्वेद के विषय में कुछ और लिखते हैं। वेदों की कुल शाखाएँ ११२७ होने का प्रमाण पातञ्जल महाभाष्य में मिलता है। वहाँ लिखा है- **एकविंशतिधा वाह्वृच्यम्, एकशतम् अध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधाऽऽथर्वणो वेदः**, अर्थात् इक्कीस शाखा ऋग्वेद की, एक सौ एक शाखा यजुर्वेद की, एक हजार शाखा सामवेद की और नौ शाखा अथर्ववेद की।

यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाओं में से छः शाखाएँ उपलब्ध होती हैं, यह ऊपर कह दिया है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण है, जिसके रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण है, जिसकी रचना तित्तिरि आचार्य ने की है। शुक्ल यजुर्वेद का श्रौतसूत्र कात्यायन कृत है जो कि कात्यायन श्रौतसूत्र कहलाता है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित आठ श्रौतसूत्र हैं- १. बौधायन, २. आपस्तम्ब, ३. सत्यषाढ़ या हिरण्यकेशी, ४. वैखासन, ५. भारद्वाज, ६. वाधूल, ७. वाराह, ८. मानव श्रौतसूत्र।

महर्षि दयानन्द यजुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में अपने भाष्य के प्रारम्भिक प्रकरण में लिखते हैं कि "ईश्वर ने जीवों को गुण-गुणी के

विज्ञान के उपदेश के लिए ऋग्वेद में सब पदार्थों की व्याख्या करके यजुर्वेद में यह उपदेश किया कि उन पदार्थों से यथायोग्य उपकार ग्रहण करने के लिए कर्म किस प्रकार करने चाहिए। उसके लिए जो-जो अङ्ग और जो-जो साधन उपेक्षित हैं, उन सबका प्रकाश यजुर्वेद में किया गया है। जब तक ज्ञान क्रियानिष्ठ नहीं होता, तब तक उससे श्रेष्ठ सुख कभी नहीं हो सकता। विज्ञान क्रिया में निमित्त बनता है, प्रकाशकारक होता है, अविद्या की निवृत्ति करता है, धर्म में प्रवृत्ति करता है और धर्म तथा पुरुषार्थ का मेल कराता है। जो-जो कर्म विज्ञाननिमित्तक होता है, वह-वह सुखजनक हो जाता है, अतः मनुष्यों को चाहिए कि विज्ञानपूर्वक ही नित्य कर्मानुष्ठान करें। जीव चेतन होने से बिना कर्म किये नहीं रह सकता। कोई भी मनुष्य आत्मा मन, प्राण और इन्द्रियों के संचालन के बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। **'यजुर्भिः यजन्ति'** इस प्रमाण से यजुर्वेद के मन्त्रों से यजन किया जाता है। जिससे मनुष्य ईश्वर का और धार्मिक विद्वानों का पूजा सत्कार करते हैं, पदार्थों के संगतिकरण द्वारा शिल्पविद्या की सिद्धि किया करते हैं, शुभ विद्या और शुभ गुणों का दान किया करते हैं, यथायोग्य सबके उपकार में शुभ व्यवहार में और विद्वानों में धनादि का व्यय करते हैं, वह यजुः है। इस प्रकार यजुर्वेद में मुख्य रूप से कर्मकाण्ड का विषय है। महर्षि ने इसी बात को सत्यार्थप्रकाश व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी कहा है।

> मनुष्यों को चाहिये कि अपने पुरुषार्थ और विद्वानों के संग से परोपकार की सिद्धि और कामना को पूर्ण करने वाली वेदवाणी को प्राप्त होकर आनन्द में रहें।
>
> **-महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ७.१०**

जीवात्मा

जिज्ञासा १- 'जीव शरीर में भिन्न विभु है, वा परिच्छिन्न? उत्तर- परिच्छिन्न, जो विभु होता तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना कभी नहीं हो सकता।' (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास) यहाँ जाना-आना आदि किसका है? जीव का या शरीर का?

ज्ञानप्रकाश कुकरेजा, ७३६/८, अर्बन स्टेट, करनाल, हरियाणा-१३२००१

समाधान १- यहाँ महर्षि दयानन्द ईश्वर और जीव की तुलना करते हुए जीव के स्वरूप को दर्शा रहे हैं कि जीव शरीर में विभु न होकर परिच्छिन्न है। ऐसा कहकर आगे इसके कारण लिखे हैं। कारणों पर चर्चा करने से पहले विभु व परिच्छिन्न शब्दों के अर्थों को देख लेते हैं। विभु कहते हैं सर्वव्यापक, सर्वगत, सर्वोपरि को। ये अर्थ (गुण) जीव में कभी नहीं घट सकते। परिच्छिन्न के अर्थ हैं सीमित, परिसीमित, सीमाबद्ध, एकदेशीय। यही अर्थ जीव में घटते हैं। महर्षि जीव के विभु न होकर परिच्छिन्न होने के कारण कह रहे हैं, "जो विभु होता तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना कभी नहीं हो सकता।" स्वप्न, जाग्रत, सुषुप्ति शरीर धारियों में होती है। विभु परमेश्वर कभी शरीर धारण नहीं करता, इसलिए ये अवस्थाएँ भी विभु परमेश्वर में नहीं होती। शरीर नहीं तो जन्म-मरण किसका? विभु (व्यापक) में संयोग-वियोग, जाना-आना भी नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग अप्राप्त से होता है और परमेश्वर व्यापक होने से उसको कुछ अप्राप्त है ही नहीं। वियोग प्राप्त से होता है, यहाँ भी परमेश्वर सर्वव्यापक होने से किसी पदार्थ से हट नहीं सकता, तो उसका वियोग भी नहीं हो सकता। वैसे ही जाना-आना भी सर्वव्यापक का नहीं हो सकता, यह तो एकदेशीय में ही सम्भव है।

महर्षि ने जीव को परिच्छिन्न कहा और परिच्छिन्न होने में जो हेतु दिये

हैं, वे सब जीव में ही घटते हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति शरीर में रहते हुए जीव की अवस्थाएँ हैं। जन्म-मरण, शरीर का मिलना और शरीर का छूटना एकदेशीय परिच्छिन्न जीव के लिए है। शरीर से संयोग और उससे वियोग जीवात्मा का होता है अथवा शरीर के माध्यम से आत्मा किसी अन्य से संयुक्त होता है और वियुक्त होता है। इसी प्रकार संसार में आत्मा शरीर में रहते हुए जाना-आना करता है और मोक्ष में परमेश्वर के आधार से जाना-आना परिच्छिन्न जीव करता है, अर्थात् **यह जाना-आना आदि शरीर के माध्यम से जीव करता है**। आपका उत्तर तो आ गया होगा। कुछ और प्रमाण आत्मा के परिच्छिन्न होने में लिखते हैं। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहाः-

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।"

मुं. ३.१.९।

अर्थात् यह अणु (परिच्छिन्न) आत्मा शुद्ध अन्तःकरण द्वारा जानने योग्य है।

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया।।

अथर्व. १०.८.२५।

अर्थात् जीवात्मा बाल से भी सूक्ष्म है और एक प्रकृति है जो दीखती नहीं। इन दोनों में जो व्यास देवता है, वही मुझे प्रिय है। इसी बात को श्वेताश्वतर में और स्पष्ट किया-

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।

श्वेता. ५.९।

बाल के अग्र के सौ भाग किये जाएँ, फिर उनमें से एक भाग के सौ भाग किये जाएँ, उस एक भाग के बराबर जीव का परिमाण है और वह

मुक्ति के लिए समर्थ है।

जिज्ञासा २- जीव का शरीर में स्थान नियत है या बदलता रहता है?

ज्ञानप्रकाश कुकरेजा, ७३६/८, अर्बन स्टेट, करनाल, हरियाणा-१३२००१

समाधान - इस विषय में ऐतरेय उपनिषद् में अलग-अलग स्थानों में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। महर्षि दयानन्द जी ने भी सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ८ में लिखा है, "जीव के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिए स्थान विशेषों का निर्माण..... ।" यह शास्त्रीय प्रमाणों और महर्षि की साक्षी से जीव का मुख्य स्थान हृदय प्रतीत होता है। जैसे '**हृदि ह्येष आत्मा।' प्रश्नो. ३.६**। आत्मा का निवास स्थान हृदय है।

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति।
तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवं वित्स्वर्गं लोकमेति।।

छां. ८.३.३।

वह आत्मा हृदय में है। हृदय को हृदय कहते भी इसलिए हैं, क्योंकि हृदि+अयम्=वह हृदय में है। जो इस रहस्य को दिन-प्रतिदिन जान जाता है, वह उसे बाहर ढूँढ़ने के स्थान में हृदय के भीतर ढूँढ़ता है और वही मानो स्वर्ग को पा जाता है। इस प्रकार और भी अनेक प्रमाण शास्त्रों में मिलते हैं। महर्षि ने भी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपासना के लिए हृदय देश ही उत्तम माना है।

जिज्ञासा ३-

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः, एतद्वै तत्।।

उपरोक्त वेद मन्त्र 'उपनिषद् प्रकाश' पृष्ठ २४८ प्रकाशक-वानप्रस्थ साधक आश्रम, रोजड़ में दिया है तथा भावार्थ दिया है कि आत्मा, हृदय में छिपा रहता है। डॉक्टर शल्य क्रिया द्वारा हृदय को (बाईपास सर्जरी में)

अलग कर देते हैं, फिर भी मनुष्य जीवित रहता है, कैसे? क्योंकि आत्मा तो उसमें है नहीं।

कृष्ण गोपाल मेहरोत्रा आर्य, वार्ड नं. १, रनकपुर (चम्पावत) उत्तराखण्ड

समाधान - जो मन्त्र आपने उद्धृत किया है, वह वेद मन्त्र नहीं है, अपितु कठोपनिषद् वल्ली चार का आठवाँ मन्त्र है। आपकी जिज्ञासा इस मन्त्र के भावार्थ में कहे गये "आत्मा हृदय में छिपा रहता है।" इस वाक्य के आधार पर है कि डॉक्टर द्वारा हृदय की शल्य क्रिया द्वारा शरीर से अलग कर देने पर भी मनुष्य जीवित कैसे रहता है? क्योंकि हृदय आत्मा का स्थान होने से हृदय के साथ-साथ शरीर से आत्मा हट गई (हृदय परिवर्तन करते हुए)। इसमें यह समझना, जानना चाहिए कि जिस हृदय की डॉक्टर लोग शल्य क्रिया करते हैं, उसमें आत्मा नहीं रहती, वह आत्मा का निवास स्थान नहीं है, इसलिए शल्य क्रिया से हृदय अलग कर देने पर भी मनुष्य जीवित रहता है।

शास्त्र में जहाँ आत्मा का निवास स्थान हृदय आता है, वहाँ शरीर में रक्त को धक्का देने (पम्प करने) वाला अङ्ग नहीं लेना चाहिए, किन्तु इस विषय में जो महर्षि दयानन्द की मान्यता अनुसार हृदय प्रदेश लिखा है, वह लेना युक्त है, लेना चाहिए। वह स्थान महर्षि ने अपनी ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका उपासना प्रकरण में लिखा है।

जिज्ञासा ४- 'जीवात्मा', 'जीव' और 'आत्मा'- क्या ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं? यदि नहीं तो प्रत्येक की क्या परिभाषाए है?

रमेश बंसल, ।।।/०६, बीसलपुर प्रोजेक्ट कॉलोनी, टोंक रोड, देवली-३०४८०४ (राज.)

समाधान- जीव, आत्मा, जीवात्मा- ये तीनों एक अर्थ को ही कहने वाले हैं। जीव जो प्राणों को धारण करने वाला है, आत्मा- **अतति निरन्तरं**

कर्मफलानि प्राप्नोति, अतति गच्छति शरीरान्तरं वा- अर्थात् जो निरन्तर गतिशील है, कर्मफलों को प्राप्त करता है अथवा शरीरान्तर को प्राप्त होता है वह आत्मा कहाता है। ये सब बातें एक ही चेतन तत्त्व में घटित होती हैं। जब शरीर धारण करता है, तब जीव वा जीवात्मा और जब शरीर धारण नहीं किये हुए तब आत्मा, इस प्रकार विभाग की दृष्टि से देखना चाहें तो देख सकते हैं, अन्यथा तीनों ही पर्यायवाची शब्द हैं।

जिज्ञासा ५- आत्मा को निराकार माना गया है और वह है भी, किन्तु हमारे समाज के जुड़े साधकों में अणुरूप व केश (बाल) के दस हजारवें भाग के उपमा के कारण साकार मानते हैं। साथ ही तर्क देते हैं कि निराकार परमात्मा में निराकार आत्मा कैसे रह सकता है तथा मृत्यु होती है तो उस निराकार आत्मा को निकलने के लिए रास्ता क्यों देखना पड़ता है? यदि वह निराकार है तो इसके लिए वे सिद्धान्त, तर्क, वेद मन्त्र, उपनिषद् के माध्यम से लिखित में चाहते हैं, जिससे अपने पक्ष को प्रस्तुत किया जा सके। कुछ विद्वान् सुख-दुःख आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं मानते हैं। कृपया, आत्मा के स्वरूप को शुद्ध रूप में बताएँ।

डॉ. अशोक कुमार गुप्त, ग्रा.पो. चाँदपुरी, बेहट रोड, वेद मन्दिर, सहारनपुर, उ.प्र.

समाधान - आत्मा निराकार है, यह युक्ति तर्क व प्रमाणों से सिद्ध है, इसको आप भी मानते हैं, किन्तु कुछ साधकों की मान्यता है कि आत्मा साकार है, इस आधार पर आपने जिज्ञासा भेजी है। इस विषय में कुछ लिखने से पहले हम साकार मानने वालों से कुछ प्रतिप्रश्न कर रहे हैं कि ऐसा कहाँ लिखा है कि आत्मा साकार है? साकार मानने वाले, साकार की परिभाषा क्या मानते हैं, साकार कहते किसे हैं? कहाँ लिखा है कि निराकार में निराकार नहीं रह सकता? बिना प्रमाण के बात कहना, समाज में भ्रम फैलाना है।

जो वस्तु अनेक अवयवों से मिलकर बनी हो और जिसमें रूप गुण हो, उसको साकार कहते हैं, अर्थात् जो आँखों से दिखाई देवे, वह साकार कहाता है। इस परिभाषा के अनुसार न तो आत्मा अनेक अवयवों से मिलकर बना और न ही उसमें रूप गुण है, इसलिए आत्मा साकार सिद्ध नहीं हो रहा है। यदि साकार की परिभाषा यह करें कि जो पदार्थ इन्द्रियों से प्रतीत होता है, वह साकार कहाता है, तो भी आत्मा साकार सिद्ध नहीं हो रहा, क्योंकि वह गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन इन्द्रियों के विषयों से परे है, और भी यदि साकार की परिभाषा यह की जाये कि जो प्रकृति से बना है, वह साकार कहाता है, तो भी आत्मा साकार सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वह प्रकृति से भी नहीं बना, उसकी अपनी स्वतन्त्र चेतन सत्ता है।

शास्त्रों में ईश्वर को स्थान की दृष्टि से महत् परिमाण वाला और आत्मा को अणु परिमाण वाला कहा है। यहाँ परिमाण का अर्थ वैसा आकार कदापि नहीं है, जैसा अनेक अवयव मिलकर एक द्रव्य रूप आकार बनाते हैं। परिमाण का अर्थ यह है कि किसी पदार्थ की इयत्ता कितनी है, वह कितने स्थान में है, उसका घेरा कितना है? शास्त्र में जहाँ भी आत्मा को अणुरूप, अणुस्वरूप, अणुमात्र कहा है, वहाँ आत्मा के अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूप को बताने के लिए है कि आत्मा अत्यल्प परिमाण वाला है। अणुरूप कहने से आत्मा का भौतिक द्रव्यों की भाँति आकार नहीं मान सकते, न ही मानना चाहिए। हाँ, स्थान की दृष्टि से आत्मा इतने स्थान में रहता है, इस रूप में उसका आकार कह सकते हैं, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः चानन्त्याय कल्पते।।

इस उपनिषद् वचन में भी बाल (केश) के सौवें भाग के सौ खण्ड करें, उनमें से एक भाग जितना आत्मा है- यह कहना आत्मा के अत्यल्प परिमाण को दर्शाने के लिए ही है कि वह बहुत छोटा, अणु परिमाण वाला

है। इस उपनिषद् वचन से, आत्मा साकार है- ऐसा अर्थ कहीं से भी नहीं निकल रहा।

आत्मा को साकार मानने वालों का यह कहना कि निराकार परमात्मा में निराकार आत्मा कैसे रह सकता है, उनके बालपन को सिद्ध करता है। उनको ज्ञात होना चाहिए कि जैसे साकार वस्तुएँ एकदेशीय होती हुई निराकार परमात्मा में रहती हैं, वैसे ही एकदेशीय निराकार आत्मा भी निराकार परमात्मा में रहता है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि आत्मा और परमात्मा दोनों निराकार होते हुए, दोनों में सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म रूप से भेद है। आत्मा सूक्ष्म है और परमात्मा अतिसूक्ष्म है, अर्थात् परमात्मा सूक्ष्म और आत्मा उससे कुछ स्थूल है। इस विषय में महर्षि दयानन्द प्रश्न पूर्वक सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं- "**प्रश्न**- जिस जगह में एक वस्तु होती है, उस जगह में दूसरी नहीं रह सकती, इसलिए जीव और ईश्वर का संयोग सम्बन्ध हो सकता है, व्याप्य-व्यापक का नहीं।

उत्तर- यह नियम समान आकार वाले पदार्थों में घट सकता है, असमान आकृति में नहीं।..... वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है।" महर्षि के इस वचन से एक बात तो यह निकली कि इयत्ता की दृष्टि से आत्मा और परमात्मा दोनों आकार वाले हैं, अर्थात् एक व्याप्य रूप है और दूसरा व्यापक रूप है, एक एकदेशीय है और दूसरा सर्वदेशीय है। दूसरी बात यह कि आत्मा परमेश्वर से कुछ स्थूल है। कुछ स्थूल होने से निराकार आत्मा निराकार परमात्मा में व्याप्य रूप से रहता है। उसके इस प्रकार रहने में कहीं कोई आपत्ति नहीं है।

मृत्यु के समय निराकार आत्मा को शरीर से निकलने के लिए रास्ता क्यों देखना पड़ता है? साकार मानने वालों का यह कथन भी आत्मा के स्वरूप को ठीक से न समझने के कारण से है। रास्ता क्यों देखना पड़ता है-

इसका उत्तर है, उसे शरीर छोड़ते समय स्थान विशेष से निकलना पड़ता है। यह सब परमेश्वर के व्यवस्थाधीन है।

आत्मा निराकार है– इसके लिए हम यहाँ महर्षि दयानन्द के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं–

१. ''इसी प्रकार भक्तों की उपासना के लिए ईश्वर का कुछ आकार होना चाहिए, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं, परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर स्थित जो जीव है, वह भी आकार रहित है, यह सब कोई मानते हैं, अर्थात् वैसा आकार न होते हुए भी हम परस्पर एक दूसरे को पहचानते हैं और प्रत्यक्ष कभी न देखते हुए भी केवल गुणानुवादों ही से सद्भावना और पूज्य बुद्धि मनुष्य के विषय में रखते हैं।'' देखें पू.प्र.व्या.१

२. ''मूर्त पदार्थों के बिना ध्यान कैसे बनेगा?

उत्तर – शब्द का आकार नहीं तो भी शब्द ध्यान में आता है वा नहीं? आकाश का आकार नहीं तो भी आकाश का ज्ञान करने में आता है वा नहीं? **जीव का आकार नहीं** तो भी जीव का ध्यान होता है वा नहीं?.......।'' पूना प्रवचन व्या. ४

३. ''१६.३ बदला दिये जावेंगे कर्मानुसार।। और प्याले हैं भरे हुए।। जिस दिन खड़े होंगे रूह और फरिश्ते सफ बाँधकर।। मं. ७/सि. ३०/सू. ७८/ आ. २६/३४/३८

समीक्षा– यदि कर्मानुसार फल.... और रूह निराकार होने से वहाँ खड़ी क्योंकर हो सकेगी?'' स.प्र. सम्मु. १४ (द.ग्रं.मा. भाग एक, सं. १२९वाँ बलिदान समारोह २०१२)

इत्यादि स्थानों पर महर्षि दयानन्द ने जीवात्मा को स्पष्ट रूप से निराकार कहा और लिखा है। इन सब प्रमाणों से जीवात्मा निराकार सिद्ध होता है, सिद्ध है।

हाँ, सुख-दुःख जीवात्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हैं, किन्तु मन के

द्वारा सुख-दुःख को अनुभव करने का सामर्थ्य जीवात्मा का स्वाभाविक है। सुख-दुःख निमित्त से उत्पन्न और नष्ट होते हैं, उनके उत्पन्न और नष्ट होने पर आत्मा उनको अनुभव करता है। महर्षि दयानन्द ने भी आत्मा की २४ स्वाभाविक शक्तियों में सुख-दुःख का कथन नहीं किया है। इससे भी पता चलता है कि सुख-दुःख आत्मा के अपने स्वभाविक नहीं हैं, नैमित्तिक हैं।

आत्मा का स्वरूप वेद आदि सत्य शास्त्रों में दिया हुआ है। वह स्वभाव से पवित्र, धार्मिक, अविनाशी, निराकार, परिच्छिन्न (एकदेशीय), पदार्थों के प्राप्ति की अभिलाषा करने वाला, दुःखादि की अनिच्छा करने वाला, सुख-दुःख की अनुभूति करने वाला, शरीर को प्राप्त कर सन्तानोत्पत्ति कर उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे-बुरे कर्म करने वाला, कर्म करने में स्वतन्त्र व फल भोगने में परतन्त्र, अल्पज्ञ, अपनी २४ स्वाभाविक शक्तियों से युक्त जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष में जाने-आने वाला आदि स्वरूप से युक्त आत्मा है।

जिज्ञासा ६- मेरी कुछ जिज्ञासाएँ हैं-

(क) जैसे प्रचलित है कि 'आत्मा सो परमात्मा' क्या यह ठीक है? जीवात्मा ही परमात्मा क्यों नहीं हो सकता?

(ख) इस संसार का भोक्ता जीव ही क्यों है, परमात्मा क्यों नहीं?

- सेवानन्द आर्य, बहराइच, उ.प्र.

समाधान- (क) 'आत्मा सो परमात्मा' वाला कथन ठीक नहीं। आत्मा सो परमात्मा अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है अथवा जो आत्मा है वही परमात्मा है, यह शास्त्र विरुद्ध कथन है। आत्मा और परमात्मा दोनों ही अलग-अलग हैं। दोनों की अपनी भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है।

जीवात्मा, परमात्मा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों के स्वरूप पृथक् हैं। जीवात्मा का स्वरूप- वह अल्पज्ञ है, अल्प शक्ति वाला है,

एकदेशीय है, कर्मों के बन्धन में आकर शरीर धारण करने वाला है, बिना सहायता के कुछ नहीं कर सकता आदि। जो स्वरूप से ही अल्पज्ञ, एकदेशीय है, वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक कभी नहीं बन सकता।

ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, कर्मों के बन्धन में न पड़ने वाला है। वेद में ईश्वर का स्वरूप दिया है-

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्था-
न्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।

– यजुर्वेद. ४०.८

अर्थात् वह परमात्मा सब ओर से व्याप्त, शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर से रहित, छिद्र रहित, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, अविद्यादि से रहित, सदा पवित्र, पाप से रहित, सर्वज्ञ, सब जीवों के मन को जानने वाला, दुष्टों का तिरस्कार करने वाला, अनादिस्वरूप, अपनी सनातन प्रजा के लिए यथार्थ भाव से वेद द्वारा सब पदार्थों को बताने हारा है।

यह स्वरूप वेद में परमेश्वर का दिया हुआ है, इस स्वरूप वाला जीवात्मा नहीं हो सकता।

योगदर्शन में भी ईश्वर का स्वरूप दिया है-

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।
स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

– योग. १.२४-२६

इस स्वरूप वाला केवल ईश्वर ही हो सकता है, आत्मा नहीं, इसलिए जीवात्मा परमात्मा नहीं हो सकता।

(ख) संसार का भोक्ता केवल जीव ही है, क्योंकि प्रकृति जड़ है,

जड़ होने से वह किसी का भोग नहीं कर सकती। वह भोग्य अवश्य हो सकती है। परमात्मा सत्यसंकल्प एवं पूर्णकाम है। वह स्वयं ही आनन्द स्वरूप है, उसको किसी भोग की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति और परमात्मा भोक्ता नहीं है तो जो जीव है, वह भोक्ता है। जीवात्माएँ हमारी दृष्टि से अनन्त हैं। जीवात्मा अविद्या के कारण संसार बन्धन में फँसकर पाप-पुण्य रूप कर्म करता है, उन पाप-पुण्य रूप कर्मों का फल भोगने के लिए विभिन्न योनियों में रहकर फल भोगता है। यह संसार जीवात्मा का भोग्य है अथवा यूँ कहिए जीवात्मा ही इसका भोक्ता है।

जिज्ञासा ७ - मैंने कहीं अनेक सारे प्रश्न पढ़े थे, उनमें सभी प्रश्न उत्सुकता पैदा करने वाले थे। वे ईश्वर विषयक एवं आत्मा, कर्मफल आदि से सम्बन्धित प्रश्न थे। उनमें से कुछ प्रश्न आपके पास लिखकर भेज रहा हूँ, आशा है समाधान करेंगे-

(क) जीवात्मा शरीर धारण क्यों करता है, कब से कर रहा है और कब तक करेगा?

(ख) क्या जीव भूत, प्रेत, डायन आदि भी बनता है?

(ग) शरीर में जीवात्मा कब आता है?

(घ) जीवात्मा की मुक्ति क्या है, मुक्ति का समय कितना है, वह कैसे प्राप्त होती है?

- धीरज कुमार पांचाल

समाधान - आध्यात्मिक व्यक्ति के मन में अध्यात्म विषयक प्रश्न उठते रहते हैं, ऐसा व्यक्ति अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिए इन प्रश्नों के हल को खोजता रहता है। जब तक सन्तुष्टि दायक उत्तर नहीं मिल जाता, तब तक वह इनके समाधान की चाह में लगा रहता है। मैं कौन हूँ, शरीर में क्यों आया हूँ, कब तक शरीर में आना-जाना लगा रहेगा, कौन मुझे शरीर में भेजता है, आदि-आदि प्रश्न आध्यात्मिक व्यक्ति को विचारने के लिए

बाध्य कर देते हैं। आपके प्रश्न भी अध्यात्म से जुड़े हुए हैं। इन सबका यहाँ एक-एक कर समाधान करते हैं।

(क) जीवात्मा शरीर धारण क्यों करता है? इसमें पहले हमें यह निश्चय करना चाहिए कि जीवात्मा स्वयं किसी शरीर को धारण नहीं करता, नहीं कर सकता। जीवात्मा को शरीर धारण परमात्मा करवाता है। उसका कारण जीवात्मा के अविद्या पूर्वक किये गये कर्म हैं। जब जीवात्मा अज्ञानता पूर्वक कर्म करता है, अथवा संसार के सुख की इच्छा से ज्ञानपूर्वक भी कर्म करता है, तब परमेश्वर उसको कर्मों का फल भोगने के लिए शरीर धारण कराता है। जीवात्मा के शरीर धारण करने का या कराने का मुख्य कारण उसके कर्म हैं।

यह शरीर धारण कब से कर रहा है? तो इसके उत्तर में कह सकते हैं कि अनन्त काल से शरीर धारण करता आ रहा है। आपने पूछा- कब तक करेगा? तो इसको भी इसी प्रकार कह सकते हैं कि अनन्त काल तक करेगा। हाँ, यह अवश्य है कि यह शरीर धारण करना मुक्ति के काल को छोड़कर है, क्योंकि मुक्ति में बिना शरीर धारण किये जीवात्मा मुक्ति के आनन्द को अपने स्वाभाविक सामर्थ्य से, परमेश्वर के सहयोग से भोगता है। जैसे मुक्ति में बिना शरीर धारण किये रहता है, वैसे ही प्रलय काल में भी जीवात्मा बिना शरीर के मूर्छा अवस्था में रहता है।

शरीर के धारण करने का कारण जैसा पूर्व में कहा, उसकी अविद्या है। जब तक आत्मा अविद्या युक्त रहता है, तब तक शरीरादि के बन्धन में रहता है और जब अविद्या का नाश कर यथावत् ज्ञान को प्राप्त हो, अपने बन्धन संस्कारों को नष्ट कर देता है, तब यह शरीर को छोड़ मुक्ति को प्राप्त होता है। मुक्ति की अवधि पूरी होने पर पुनः शरीर के बन्धन में आता है। यह मुक्ति-बन्धन का चक्र अनादि काल से चला आया है और चलता रहेगा।

इसी आधार पर हमने कहा कि आत्मा मुक्ति व प्रलय काल को

छोड़कर अनन्तकाल से शरीर धारण करता आया है और धारण करता रहेगा।

(ख) जीवात्मा भूत, प्रेत, डायन आदि कभी नहीं बनता, क्योंकि इस प्रकार की कोई योनि अथवा शरीर है ही नहीं। जीवात्मा शरीर छोड़ने के बाद स्वतन्त्र रूप से न कुछ कर सकता और न ही किसी शरीर में प्रवेश कर सकता है। भूत-प्रेत किसी योनि विशेष के नाम नहीं हैं। मरे हुए शरीर का नाम 'प्रेत' है और दाह कर्म हो चुकने के बाद उसका नाम भूत है। 'भूत' शब्द का सीधा अर्थ है 'हो चुका', अर्थात् जो होकर न रहे, उसका नाम भूत है। भूत, प्रेत, डायन आदि नामों से योनि विशेष की कल्पना धूर्त लोगों ने भोले-भाले लोगों को ठगकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए की है।

कुछ लोग कहते हैं कि कभी-कभी भूत-प्रेत सम्बन्धी ऐसी घटनाएँ देखने-सुनने में आती हैं, जिनके कारण भूतों और उनके कारनामों को नकारा नहीं जा सकता और न मानने वालों को भी बरबस मानना पड़ता है, परन्तु ऐसी घटनाओं की भली प्रकार जाँच-पड़ताल की जाये तो वास्तविकता सामने आ जाती है। वस्तुतः उनके मूल में कुछ धूर्त लोगों की चालाकी और दूसरों की मानसिक दुर्बलता होती है। बचपन में भूत-प्रेतों की कहानियाँ सुनते-सुनते उनके संस्कार इतने गहरे हो जाते हैं कि बड़े होने और काफी समझदार हो जाने पर भी उनका निकलना दूभर हो जाता है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भूत-प्रेत की वास्तविक सत्ता बाह्य जगत् में न होकर, उसे मानने वाले के मन में पहले से विद्यमान रहती है। तब उसे सर्वत्र भूत ही भूत नजर आने लगते हैं। जिसके मन में भूत नहीं होता , वह उसे कहीं भी, कभी भी नहीं मिलता, इसलिए भूत-प्रेत की मिथ्या कल्पना में नहीं पड़ना चाहिए।

(ग) शरीर में जीवात्मा गर्भस्थापन के समय में ही आ जाता है। यह व्यवस्था नर-मादा के संयोग होने पर है। पेड़-पौधे आदि में उनके बीजादि

के अंकुरित होने की परिस्थिति में आता है। ऐसे ही स्वेदज योनि के शरीरों में भी जानें।

(घ) महर्षि दयानन्द के शब्दों में मुक्ति है-

मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः।

अर्थात् जिससे छूट जाना हो, उसका नाम मुक्ति है। महर्षि कहना चाहते हैं कि समस्त दुःखों से सर्वथा छूटकर सुख को प्राप्त होना, ब्रह्म में रहना मुक्ति है। ऐसी स्थिति को प्राप्त होना जीवात्मा की मुक्ति है। इसी स्थिति को सभी ऋषियों ने मुक्ति माना है-

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।।

– न्याय.१.१.१२,१.१.२

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

– सांख्य. १.१

महर्षियों द्वारा वर्णित और परिभाषित इस मुक्ति से अन्य मतवादियों और पुराणादि मिथ्या ग्रन्थों में कही गई कतिपय मुक्ति का निराकरण हो जाता है।

मुक्ति की एक निश्चित अवधि है, उस अवधि के पूरा होने पर पुनः आत्मा शरीर धारण करता है। उस मुक्ति की अवधि को महर्षि दयानन्द ने मुण्डकोपनिषद् के आधार लिखा है। वे लिखते हैं-

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।

–वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार में आते हैं।

इसकी संख्या है– तेंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक 'चतुर्युगी', दो चतुर्युगियों का एक 'अहोरात्र', ऐसे तीस अहोरात्र का एक 'महीना', ऐसे बारह महीनों का एक 'वर्ष', ऐसे शत वर्षों का परान्तकाल होता है।

इसको गणित की रीति से यथावत् समझ लीजिये। इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है। गणित की रीति अनुसार ३१ नील १० खरब ४० अरब मानुष वर्ष पर्यन्त मुक्ति का काल है। इतने काल पर्यन्त जीवात्मा दुःख से रहित मुक्ति के आनन्द को भोगता है।

मुक्ति कैसे प्राप्त होती है? किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तीन बातों का ज्ञान होना आवश्यक है- एक कर्त्ता, दूसरा उसकी क्रिया और तीसरा साधन। ये तीनों ठीक हैं तो लक्ष्य प्राप्त होता है। कर्त्ता अर्थात् लक्ष्य प्राप्त करने वाला। यह कर्त्ता यदि लक्ष्य प्राप्ति की तीव्र इच्छा रखते हुए ठीक क्रिया और ठीक साधनों का प्रयोग कर रहा है तो वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। यदि इन तीनों में से किसी एक में भी न्यूनता हुई तो लक्ष्य प्राप्त न होगा।

आपने पूछा- मुक्ति कैसे प्राप्त होती है? तो इसका सामान्य सा उत्तर है- योगाभ्यास से, अर्थात् जब जीवात्मा योगाभ्यास से अपने अन्तःकरण को पवित्र कर, संसार से विरक्त हो, परमेश्वर को प्राप्त कर, अपनी अविद्या की गाँठ को नष्ट कर देता है, तब उसे मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्ति के साधन योगदर्शनादि शास्त्रों में विस्तार से कहे गये हैं।

हम यहाँ महर्षि दयानन्द द्वारा कहे गए मुक्ति के कुछ उपायों को लिखते हैं- "परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे, वह सब पक्षपात रहित न्यायधर्मानुसार ही करे- इत्यादि साधनों से 'मुक्ति' और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भंग करने आदि काम से 'बन्ध' होता है।" (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ९)

इन सब साधनों के करने से मुक्ति होती है। उपरोक्त सभी विषयों को विस्तार से जानने के लिए महर्षि दयानन्द का सत्यार्थप्रकाश व ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका पढ़ें।

जिज्ञासा ८- शरीर अवस्था में ही आत्मा को जीवात्मा कहा जाता है, मोक्ष में नहीं। मोक्ष काल में आत्मा केवल आत्मा होता है। जैसा मैंने पढ़ा और सुना, यह भी कि मोक्ष में प्राण का सम्बन्ध आत्मा से छूट जाता है तो फिर प्राण एक देशी है ? प्राण सम्बन्ध से ही आत्मा जीवात्मा क्यों हो जाता है?

- रतनलाल सैनी, म.नं. ७५५/१८, नजदीक राधा कृष्ण मन्दिर, गली दिल्ली वाली, मौहल्ला सैनियान, हिसार-१२५००१ (हरियाणा)

समाधान - शरीर अवस्था में ही आत्मा को जीवात्मा कहा जाता है मोक्ष में नहीं कहा जाता, ऐसा नहीं है। आत्मा को बन्ध व मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा, जीवात्मा, जीव कहा जाता है, कहा जा सकता है। इसके लिए हम यहाँ महर्षि दयानन्द के वचनों का प्रमाण लिखते हैं- १. 'शरीर रहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है, उसको सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श भी नहीं होता, किन्तु सदा आनन्द में रहता है।' २. 'जैसे इस समय **बद्ध-मुक्त जीव** हैं, वैसे ही सर्वदा रहते हैं।' ३. वे **मुक्त जीव** मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म के आनन्द को....। **४. जीव मुक्त** होकर भी शुद्ध स्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित गुण, कर्म, स्वभाव वाला रहता है, परमेश्वर के सदृश.....। ५. मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक **जीवात्मा** के साथ नहीं रहते....। स.प्र.स. ९ इत्यादि स्थलों पर महर्षि आत्मा, जीवात्मा, जीव इन तीनों का ही प्रयोग करते हैं, इसलिए मोक्ष में ही आत्मा संज्ञा होती है, अन्यत्र नहीं- यह कहना उचित नहीं। हाँ, यह ठीक है कि मोक्ष में आत्मा का सम्बन्ध प्राणों से नहीं रहता और यह भौतिक प्राण

एकदेशीय है- इसमें भी संशय नहीं है।

प्राण सम्बन्ध से ही आत्मा, जीवात्मा कहलाता हो- ऐसा नहीं है। बिना प्राण सम्बन्ध के भी जीवात्मा कहा जाता है, यह उपरोक्त ऋषि प्रमाणों से सिद्ध है।

जिज्ञासा ९- मेरा प्रश्न है कि ऋषि के सत्यार्थ प्रकाश के अनुसार शरीर की चार अवस्था मानी गई हैं- सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत व तुरीय। हम सामान्य पुरुषों की तुरीय न होकर अन्य तीन अवस्थाएँ मैं समझती हूँ। इन तीन अवस्थाओं में आत्मा का निवास कहाँ होता है? यह मेरी शंका है क्योंकि मैंने स्वाध्याय में पाया है- प्रथम आत्मा का ज्ञान होगा, तभी ईश्वर का ज्ञान होगा, अन्यथा नहीं। त्रैतवाद का दूसरा अंग आत्मा ही है, अत: मैं आत्मा के विषय में पूरा-पूरा ज्ञान जानना चाहती हूँ। कृपया, मुझे बताइये।

- सुमित्रा आर्या, ९६१/१०, आदर्श नगर, सोनीपत, हरियाणा।

समाधान - सत्यार्थप्रकाश के ९वें समुल्लास में महर्षि ने मुक्ति के साधन कहे हैं, उन साधनों में तीन अवस्थाओं का वर्णन है- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। वहाँ तुरीय को अवस्था न कहकर ऋषि ने चौथे शरीर रूप में वर्णन किया है। इस तुरीय शरीर की व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं - "तुरीय शरीर वह कहाता है, जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में जीव होते हैं। इसी समाधि संस्कारजन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है।" इस प्रकार यह तुरीय अवस्था न होकर तुरीय शरीर है।

आप शरीर में आत्मा निवास को जानना चाहती हैं, इस विषय में उपनिषद् में लिखा हुआ कि उसका निवास स्थान हृदय है। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपासना विषय में इस हृदय स्थान की

व्याख्या स्पष्ट की है। यह भी लिखा है कि इसी हृदय प्रदेश में योगी जन अपने आत्मा का मेल परमात्मा से करते हैं। यह मेल जाग्रत अवस्था समाधि में होता है, सुषुप्ति में नहीं। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा का शरीर में मुख्य निवास स्थान हृदय प्रदेश में ही है। इसकी अनुभूति आप स्वयं भी कर सकते हैं। जब हमें भय लगता है तो भय की अनुभूति न तो आँखों में होती, न ही कण्ठ व अन्य स्थान पर, यह अनुभूति हृदय प्रदेश में ही होती है। क्योंकि वहाँ आत्मा रहता है, जो कि अनुभव करने वाला है। भय के समान सुख-दुःख आदि की अनुभूति समझें।

रही आत्मा के स्वरूप की बात तो यह स्वरूप ऋषियों ने शास्त्र में वर्णित कर रखा है। जीवात्मा नित्य, चेतन, अनादि, निराकार, अल्पज्ञ एकदेशीय, अल्पशक्तिवाला, जन्म-मरण में जाने आने वाला, कर्म करने में स्वतन्त्र, फल भोगने में परतन्त्र है- इत्यादि स्वरूप में आत्मा का वर्णन मिलता है।

लिंग की दृष्टि से देखें तो आत्मा के स्त्री, पुरुष, नपुंसक लिंग-भेद नहीं हैं। पुरुष का आत्मा अन्य जन्म में स्त्री शरीर में और स्त्री का आत्मा पुरुष शरीर में आता-जाता है, आ-जा सकता है। लिंग निर्धारण तो शरीर के आधार पर होता है, यथार्थ आत्मा का कोई लिंग नहीं है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए ऋषियों के ग्रन्थों का स्वाध्याय करें विस्तार से जानकारी मिलेगी।

जिज्ञासा १० - जब एक ही मंच से एक ही वैदिक मत को मानने वाले दो विद्वान् एक बिन्दु पर विभिन्न मत प्रकट करें तो हमारे जैसे सामान्य पाठक के लिए भ्रम में पड़ जाना स्वाभाविक है। एक आचार्य आत्मा को साकार बताता है और दूसरा निराकार, तो ठीक कौन-सा है, यह निर्णय कौन करेगा? कृपया, निम्न बिन्दुओं पर स्थिति स्पष्ट करने का कष्ट करें:-

(क) जिज्ञासा ९ का समाधान करते हुए यह तो बता दिया गया है

कि आत्मा का शरीर में मुख्य निवास स्थान हृदय प्रदेश में ही है, परन्तु जिज्ञासु की इस जिज्ञासा का समाधान नहीं बताया गया कि सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्था में शरीर में आत्मा एक ही स्थान पर रहती है या स्थान बदलती रहती है? यदि स्थान बदलती है तो क्यों?

(ख) यदि आत्मा अर्थात् मैं या मेरा आत्मा स्थान बदलता है तो मुझे पता क्यों नहीं चलता। किसके बदलने से बदलता है, संचालन कौन करता है?

(ग) आत्मा निराकार है या साकार? आपने लिखा है कि निराकार है, तो क्या आप किसी आर्ष ग्रन्थ या वेद का प्रमाण इस बारे में दे सकते हैं, जैसे कि परमात्मा के बारे में अनेक दिए जा सकते हैं?

(घ) ईश्वर अनन्त, असीम है, परन्तु आत्मा ससीम है, इसलिए अणुस्वरूप होने के कारण उसकी कुछ न कुछ लम्बाई-चौड़ाई तो होगी ही, इसलिए क्या उसे हम साकार नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी सीमाएँ हैं? निराकार-साकार की परिभाषा क्या है?

(ङ) पंच भौतिक तत्त्वों में से एक आकाश भी है और भौतिक तत्त्व प्रकृति के परमाणुओं से बनते हैं, जिनसे पृथ्वी, सूर्यादि पूरा जगत् बनता है। यदि आकाश को निराकार कहा जाए, तो अभाव से भाव कैसे बनेगा? यदि आकाश साकार है तो 'ओ३म् खम् ब्रह्म' क्यों कहते हैं। कृपया, समाधान करने का कष्ट करें।

- इन्द्रसिंह, पूर्व एस.डी.एम. एवं पूर्व न्यायाधीश, २९, नई अनाज मण्डी, भिवानी, हरि.

समाधान - आपने जो अपनी पीड़ा कही है, वह युक्तियुक्त है। निश्चित रूप से जब एक ही बिन्दु पर दो विद्वान् भिन्न-भिन्न विचार प्रकट करते हैं तो सामान्य जन में भ्रान्ति उत्पन्न होती है। वह दोनों के प्रति विश्वास का भाव रखता है, ऐसा होते हुए वह सामान्य जन किसको नकारे वा

किसको स्वीकारें? इस विषय में हमारा निवेदन है कि जब-जब ऐसी परिस्थिति बने तब-तब यह अवश्य देख लें कि किस विद्वान् की बात ऋषि सम्मत है और किसकी बात ऋषियों से मेल नहीं रख पा रही। दोनों में से जिस किसी की बात ऋषियों से प्रमाणित हो, उसी विद्वान् की बात को सामान्य जन स्वीकार करें, अन्य की नहीं। अस्तु।

अब मैं आपके एक-एक बिन्दु पर विचार करते हुए समाधान लिखता हूँ-

(क) जिज्ञासा ९ के समाधान में मैंने आत्मा का मुख्य स्थान इसलिए बताया, क्योंकि जिज्ञासु आत्मा-परमात्मा को जानना चाहता है, सो इन दोनों का ज्ञान महर्षि दयानन्द के अनुसार हृदय प्रदेश में ही होता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में आत्मा के जो स्थान जिस उपनिषद् में कहे हैं, वे स्थान युक्ति व ऋषि दयानन्द के मन्तव्य से मेल नहीं रखते। ब्रह्मोपनिषद् में लिखा है-

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मुर्ध्नि संस्थितम्।।

अर्थात् जागृत अवस्था में आत्मा को नेत्र में जानें, स्वप्न में कण्ठ में रहता है, सुषुप्ति में हृदयस्थ रहता है और तुरीय अवस्था में आत्मा मूर्धा में निवास करता है।

महर्षि दयानन्द ने दश उपनिषदों को प्रमाण माना है, ग्यारहवें श्वेताश्वतर के प्रमाण भी महर्षि ने अपने ग्रन्थों में कहे हैं, इसलिए इस उपनिषद् को भी मिलाकर ग्यारह उपनिषदें प्रामाणिक हैं। यह ब्रह्मोपनिषद् इन ग्यारह से अतिरिक्त है। इस उपनिषद् में पौराणिकता से युक्त बातें भी कही गई हैं जो कि आर्षानुकूल नहीं हैं।

उपरोक्त श्लोक में आत्मा के कहे गये स्थान कितने युक्त हैं, आप करके देखे। जागते हुए हमें भय, दुःख, अशान्ति वा प्रसन्नता की अनुभूति आँखों

में होती है या ऋषि द्वारा वर्णित हृदय में? जब ये सारी अनुभूतियाँ हृदय में होती हैं तो आत्मा को वहीं मानना होगा, अर्थात् आत्मा का निवास स्थान हृदय है, इसलिए मैंने उक्त समाधान में लिखा कि आत्मा का मुख्य निवास स्थान हृदय है। इसी प्रकार स्वप्न में भय अथवा प्रसन्नता की अनुभूति कहाँ होती है, उसको देखकर विचार करें। वह अनुभूति भी हृदय में ही मिलेगी, क्योंकि जहाँ आत्मा है, वहीं उसी स्थान पर प्रसन्नता-अप्रसन्नता की अनुभूति वह करता है। इस प्रकार यह कहना असंगत न होगा कि आत्मा का मूल निवास स्थान हृदय है।

(ख) यदि आत्मा स्थान बदलता है तो हमें पता क्यों नहीं चलता? इसमें मैं इतना ही कहूँगा कि यह व्यवस्था ईश्वराधीन है। ईश्वर ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि आत्मा स्थान बदलता है। यहाँ व्यवस्था ईश्वर की है और संचालक स्वयं आत्मा है।

स्थान बदलता है तो हमें पता क्यों नहीं चलता? इसको तो आप छोड़िए! कितनी सारी स्थूल बातों का भी हमें पता नहीं चल पा रहा। कैसे हमारे अन्दर भोजन का विखण्डन हो रहा है, उससे रक्तादि का निर्माण कैसे हो रहा है, हमारे पूरे शरीर के ऊपर रोम-बाल कितने हैं, नेत्र की संरचना कैसी है? और भी बहुत सारी स्थूल बातों को हम नहीं जान पा रहे, जान पाते। और फिर आत्मा का विषय तो अति सूक्ष्म है। हाँ, हो सकता है, इस स्थान वाली स्थिति को योगी लोग जान लेते हों।

(ग) आत्मा निराकार है वा साकार? मैंने अपने समाधान में आत्मा को निराकार लिखा। मेरे ऐसा लिखने पर आपने आर्ष प्रमाण माँगा है। मैं आपको आर्ष प्रमाण देने से पहले निवेदनपूर्वक पूछता हूँ कि क्या आपने साकार मानने वालों से और साकार के विषय में कोई एक-आध आर्ष प्रमाण प्राप्त किया? अस्तु।

आत्मा निराकार है- इसके लिए मैंने पहले भी तीन आर्ष प्रमाण दिये

थे। अब फिर लिखता हूँ- सत्यार्थप्रकाश, प्रकाशक- सत्यधर्म प्रकाशन, शोधकर्त्ता-समीक्षक- सम्पादक व भाष्यकार- डॉ. सुरेन्द्र कुमार, पृष्ठ- ५५७ व सत्यार्थप्रकाश, प्रकाशक- परोपकारिणी सभा, अजमेर, संस्करण ४०वाँ, पृष्ठ- ५५१।

(१)"बदला दिये जावेंगे कर्मानुसार ।।और प्याले हैं भरे हुए।। जिन दिन खड़े होंगे रूह और फ़रिश्ते सफ़ बाँधकर। मं. ७/सि. ३०/सू. ७८/आ. २६/३४/३८। समीक्षा- यदि कर्मानुसार फल दिया जाता है तो...... और **रूह निराकार** होने से वहाँ खड़ी क्योंकर हो सकेगी?" सत्यार्थप्रकाश समुल्लास १४

(२)"इसी प्रकार भक्तों की उपासना के लिए ईश्वर का कुछ आकार होना चाहिए, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं, परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर स्थित **जो जीव है, वह भी आकार रहित है,** यह सब कोई मानते हैं...... प्रत्यक्ष कभी न देखते हुए भी केवल गुणानुवादों ही से सद्भावना और पूज्य बुद्धि मनुष्य के विषय में रखते हैं।" देखें पूना प्रवचन व्या. १

(३)"प्रश्न- मूर्त पदार्थों के बिना ध्यान कैसे करते बनेगा?

उत्तर - शब्द का आकार नहीं तो भी शब्द ध्यान में आता है वा नहीं? आकाश का आकार नहीं तो भी आकाश का ज्ञान करने में आता है वा नहीं? **जीव का आकार नहीं** तो भी जीव का ध्यान होता है वा नहीं?.......।" पूना प्रवचन व्या. ४

इन सभी स्थलों पर महर्षि ने आत्मा को निराकार लिखा और कहा है। महर्षि की इन बातों की कोई अवहेलना कर आत्मा साकार माने मनवावे तो उसका कोई क्या कर सकता है?

(घ) आत्मा ससीम, अणुस्वरूप है, इस कारण उसकी कुछ न कुछ तो लम्बाई-चौड़ाई होगी ही, इसलिए उसको साकार कह सकते हैं। यह

कहने वाला इसी कारण उसको साकार मानता है तो वह मानता रहे, क्योंकि ऐसा मानने वाला साकार-निराकार की परिभाषा ही नहीं जानता। वह तो महत्स्वरूप को निराकार और अणु स्वरूप को साकार मानता है, जो कि इस आधार पर साकार, निराकार की परिभाषा ठीक नहीं है।

(१) साकार वह है जो प्रकृति से बना हुआ है, इससे अतिरिक्त निराकार।

(२) साकार वह जिसमें रूप, रस, गन्ध आदि पाँचों गुण प्रकट हों, इनसे भिन्न अर्थात् जिसमें ये पाँचों प्रकट न हों, वह निराकार।

(३) साकार वह जिसमें रूप गुण प्रकट रूप में हो, इससे भिन्न निराकार।

उपरोक्त साकारा-निराकार की किसी भी परिभाषा से आत्मा साकार सिद्ध नहीं हो रहा और यदि इन परिभाषाओं की अवहेलना करके कोई व्यक्ति आत्मा को साकार मानता है तो आत्मा सदा नित्य और चेतन सिद्ध न हो पायेगा जो कि वह सदा नित्य और चेतन है, इसलिए उपरोक्त ऋषि प्रमाणों व साकार-निराकार की परिभाषा के अनुसार आत्मा साकार नहीं अपितु निराकार ही है।

(ङ) आकाश को ऋषि दो प्रकार का मानते हैं, एक- जो शब्द तन्मात्रा से बना है, दूसरा- जो अवकाश रूप आकाश है। उपरोक्त आकाश की परिभाषा ३ के आधार पर देखेंगे तो यह शब्द सूक्ष्म भूत से निर्मित आकाश भी निराकार कहलायेगा और दूसरा जो अवकाश रूप आकाश है वह तो है ही निराकार। यदि आप इस परिभाषा ३ को न मानकर १ को माने तो भी कोई बाधा नहीं आयेगी, क्योंकि अवकाश रूप आकाश तो निराकार है ही। यदि आप निराकार आकाश को लेकर **'ओ३म् खं ब्रह्म'** को घटाना चाहते हैं तो इस प्रकार आपकी बात घट जायेगी।

किन्तु यहाँ **'ओ३म् खं ब्रह्म'** में साकार निराकार को लेकर बात नहीं

कही जा रही है, यहाँ तो ब्रह्म की विशालता को कहा जा रहा है कि वह ब्रह्म आकाश के समान व्यापक है, विशाल है, बड़ा है। यहाँ यह नहीं कहा जा रहा कि वह ब्रह्म आकाश के समान निराकार है। इस प्रकार यहाँ ब्रह्म की व्यापकता को जो आकाश की उपमा देकर कहा है, वह उपमा दोनों आकाश से कही जा सकती है, क्योंकि दोनों ही आकाश व्यापक है।

जो ईश्वर वेदविद्या से अपने सांसारिक जीवों और जगत् के गुण, कर्म्म, स्वभावों को प्रकाशित न करता तो किसी मनुष्य को विद्या और इनका ज्ञान न होता और विद्या वा उक्त पदार्थों के ज्ञान के बिना निरन्तर सुख क्यों कर हो सकता है?

– महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ८.५४

संस्कार / अन्तःकरण

जिज्ञासा १ (क)- हम अपने कुसंस्कार=पुरानी गन्दी आदत छोड़ना चाहते हैं, किन्तु बहुत प्रयास करने पर भी छूट नहीं पाते। क्या करें ?

(ख) क्या प्राणनाशक स्वप्नदोष से सम्पूर्ण छुटकारा पाने का कोई उपाय है ? शारीरिक पुष्टि के क्या उपाय हैं ?

(ग) क्या मेरे जैसे महापतित व्यक्ति, आप अथवा आप जैसे किसी सद्गुरु के चरण में जीवन पूर्ण समर्पित करके, पूरा-पूरा आदेश का पालन करके समाधि तक पहुँच सकता है ? इसी जन्म में मुक्ति सम्भव है ?

(घ) प्रतिपक्ष भावना कभी-कभी उलटा परिणाम देती है तो कभी शाब्दिक स्तर पर रह जाती है। यह तोता रटन न होकर वास्तविक कैसे होगी ?

(ङ) ऋषियों की भाँति हमें कैसे सर्वत्र विषयों में दुःख दिखेगा ? साधना कैसे करें, जिससे शीघ्र सफलता प्राप्त होगी ?

अनेक गुरुकुल के ब्रह्मचारी इन प्रश्नों का उत्तर पाना चाहते हैं। लज्जादि के कारण हम अपना नाम नहीं लिख पा रहे हैं, परन्तु आशा व दृढ़विश्वास है, परोपकारी में उत्तर मिलेगा, क्योंकि परोपकारी अन्वर्थ संज्ञा, दूसरों की उन्नति के लिए सदा तत्पर है। सामाजिक उन्नति तो होती ही है। हमारी शारीरिक व आत्मिक उन्नति के लिए आप कृपा करेंगे- यह विनम्र प्रार्थना है।

- एक साधक।

समाधान - आपकी जिज्ञासा ब्रह्मचर्य रक्षा पर है, इससे सम्बन्धित कई प्रश्न आपने पूछे हैं। उनका क्रमशः संक्षेप से उत्तर देता हूँ।

(क) पुराने कुसंस्कार, बुरी आदतें, उनकी सभी प्रकार की हानियाँ समझने, देखने, अनुभव करने से ही छूट सकती हैं, अन्यथा नहीं। जो बुरी आदते हैं, उनके आलम्बनों से बचे रहना भी अत्यन्त आवश्यक है।

आलम्बन उपस्थित हो जाने पर उस आलम्बन से दूर हट जाना, वहाँ न रहना आदि उपाय हैं।

(ख) इससे छुटकारा पाने के लिए और शरीर पुष्टि के लिए किसी योग्य वैद्य का परामर्श अवश्य लें और इन कुछ उपायों का प्रयोग करें-

१. सामर्थ्य अनुसार नित्य प्रति व्यायाम, भ्रमण, शारीरिक परिश्रम अवश्य करें।

२. रात्रि में गाढ़ निद्रा लें और दिन में शयन न करें, प्रातः चार बजे के पश्चात् कदापि न सोवें।

३. रात्रि में सोने से २-३ घण्टे पूर्व हल्का भोजन करें, सोते समय ईश्वर का स्मरण अवश्य करें।

४. विषयों को बढ़ाने वाले दृश्य, पुस्तकादि कभी न पढ़ें, सदा उत्तम धार्मिक पुस्तकें ही पढ़ें।

(ग) केवल मात्र ब्रह्मचर्य हानि से व्यक्ति महापतित नहीं हो जाता। महापतित तो वेद का निन्दक है, घोर हिंसा करने वाला है, अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए दूसरे की बड़ी-से-बड़ी हानि करने वाला है, राष्ट्रद्रोह आदि करने वाला है। व्यक्ति अपने दोष छोड़ अथवा छोड़ने का प्रयत्न करता हुआ, किसी ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के चरणों में अपने को समर्पित कर उनके आदेश, उपदेश का ठीक-ठीक पालन कर समाधि तक पहुँच सकता है। यदि पिछले जन्मों के संस्कार प्रबल हैं तो इस जन्म में भी मुक्ति हो सकती है। यह काम अत्यन्त परिश्रम के साथ हमारे पुण्यों पर निर्भर करता है। यदि पुण्याशय बहुत अधिक है और तीव्र संवेग व पुरुषार्थ है तो शीघ्र समाधि लाभ हो सकता है, इसलिए हमें शीघ्र समाधि लाभ के लिए सतत निष्काम कर्म करते हुए अपने पुण्यों को बढ़ाते रहना चाहिए और व्यर्थ-अनावश्यक सांसारिक सुखादि लेकर अपने पुण्यों को खर्च (घटाना) नहीं करना चाहिए।

(घ) यदि प्रतिपक्ष भावना को ठीक-ठीक समझा है और उसका प्रयोग भी ठीक-ठीक किया है तो वह कभी भी उलटा परिणाम नहीं देती है। प्रतिपक्ष भावना हिंसादि वितर्कों में दुःख देखने का नाम है। जीवात्मा स्वभाव से ही दुःख से छूटना चाहता है, यदि वितर्कों- हिंसा, असत्य, अब्रह्मचर्य आदि में यथार्थ रूप से दुःख दिख रहा है, तो जीवात्मा अवश्य ही उनको छोड़ेगा, उनसे दूर रहेगा, उनको छोड़ने का अति प्रयत्न करेगा। ऐसी स्थिति में प्रतिपक्ष भावना न तो उलटा परिणाम देती है और न ही शाब्दिक स्तर पर रहती है। तोता रटन न होकर यह वास्तविक हो- इसके लिए इसके यथार्थ स्वरूप को समझिए, जानिए और इसका ठीक प्रयोग कीजिए, सफलता मिलेगी।

(ङ) ऋषियों की भाँति सामान्य व्यक्ति विषयों में दुःख नहीं देख सकता, विषयों में दुःख विवेकी व्यक्ति को दिखता है। ऐसे विवेकी, वैराग्यवान् विषयों में कभी प्रवृत्त नहीं होते, इसलिए विषयों में दुःख देखने के लिए अपने अन्दर विवेक पैदा कीजिए। साधना करने के लिए पहले साधना का अनुकूल परिवेश तैयार करें, आन्तरिक, बाह्य दोनों। यम-नियम आदि का पालन करते हुए मनादि अन्तःकरण को पवित्र बनाना, अपने लक्ष्य को निश्चित करना, दोनों समय उपासना करने का दृढ़ निश्चय करना आदि से आन्तरिक परिवेश तैयार करें। हमारे मित्र धार्मिक-आध्यात्मिक हों, उन्हीं से सम्बन्ध रखना, अन्यों से विशेष सम्बन्ध न रखना, किसी वैदिक आश्रम वा व्यक्तिगत शान्त स्थान पर रहना, लौकिक लोगों से आवश्यकता अनुसार कम-से-कम व्यवहार करना आदि से बाह्य वातावरण बनायें और महर्षि दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वर्णित उपासना विषय और योगदर्शन के अनुसार साधना करें, शीघ्र सफलता प्राप्त होगी।

जिज्ञासा २- (क) मन को प्रकृति से बना जड़ बताया है, किन्तु अनेक भजनों में चंचल कहा है। शिव संकल्प में यह मेरा मन शिव संकल्प

वाला हो, ऐसे कहा है, जैसे वह चेतन हो।

(ख) मन में बुरे विचार हम लाते हैं या स्वयं आ जाते हैं? उन बुरे विचारों से बचने का उपाय भी बताने की कृपा करें।

डॉ. अशोक कुमार गुप्त, ग्रा.पो. चाँदपुरी, बेहट रोड, वेद मन्दिर, सहारनपुर, उ.प्र.

समाधान (क) निश्चित रूप से प्रकृति से बना मन जड़ पदार्थ है। वह आत्मा का महत्त्वपूर्ण साधन है, इसी से आत्मा सुख-दुःखादि की अनुभूति करता है। परमेश्वर ने मन को अतिवेगवान् बनाया है, यह आत्मा के संकल्पमात्र से क्रियाशील हो जाता है, इसलिए इसको चंचल कहा है। अनेक बार जड़ पदार्थों को भी चेतनवत् कह दिया जाता है। इसी कारण हम व्यवहार में ऐसा कथन करते हैं, कर देते हैं। जैसे मेरा हाथ ऊपर उठा, मेरी आँख ने अमुक दृश्य देखा, मेरी जिह्वा ने इसको चखा, मेरा मन भिन्न विषय में चला गया आदि। ये हाथ, आँख, जिह्वा, मन सब जड़ पदार्थ हैं। इनमें स्वयं (अपने आप) कुछ भी करने का सामर्थ्य नहीं है, फिर भी इनका चेतनवत् कर्त्ता के रूप में व्यवहार होता है, यह सब गौण रूप में कथन है। यथार्थ में इन सबको चलाने वाला आत्मा है। ऐसा ही शिव संकल्प वाले मन्त्रों में समझना चाहिए।

(ख) मन में बुरे विचार हम स्वयं भी लाते हैं और किसी आलम्बन से भी उठते हैं। परमेश्वर ने हमारे कल्याण के लिए मन को इस प्रकार बनाया है कि जब हम इससे विचार करना चाहें, तब कर सकें और न करना चाहें, न कर सकें, यह हमारी इच्छा पर निर्भर है। दूसरा किसी आलम्बन विशेष से हमारे प्रयत्न न करने पर भी मन में विचार उठने लगते हैं। जैसे-जैसे संस्कार हमारे मन में प्रबल रूप से बने हुए हैं, उन-उन संस्कारों का आलम्बन बनने पर तत्-तत् सम्बन्धी स्मृतियाँ हमारे बिना प्रयत्न के आने लगती हैं, उठने लगती हैं। यह व्यवस्था हमारे कल्याणार्थ

परमेश्वर ने कर रखी है। यदि परमेश्वर ऐसा न करता तो हमारा व्यवहार, प्रयोजन ठीक से सिद्ध न हो पाता।

बुरे विचारों से बचने का उपाय तत् सम्बन्धी आलम्बन से दूर रहना, अभ्यास, वैराग्य, प्रतिपक्ष भावना आदि है। मनरूपी नदी की विचारधारा पाप व पुण्य दोनों ओर बहती है। उसको पाप की ओर से रोक पुण्य की ओर चलाने के लिए यम-नियमादि साधनों का अनुष्ठान कर पुरुषार्थ पूर्वक यत्न करते रहने को अभ्यास कहते हैं। ऐसा करने पर मन में सुसंस्कारों का संचय अधिक-से-अधिक होगा। इससे हम बुरे विचारों से बचेंगे, बुरे विचार नहीं उठायेंगे, नहीं उठेंगे। वैराग्य से भी बुरे विचारों से बचा जाता है। जिसका जितने स्तर का वैराग्य होगा वह उतने ही स्तर पर अपने मन को बुरे विचारों से बचाये रखेगा। संसार के विषय में दुःख देखकर उससे विरत होने का नाम वैराग्य है। प्रतिपक्ष भावना मन के बुरे विचारों को रोकने का प्रबल उपाय है। जब-जब मन में बुरे विचार उठाते हैं, तब-तब प्रतिपक्ष भावना को प्रबलंता से करें तो सद्यःफल दिखेगा। बुरे कामों, विचारों को करने-करवाने एवं समर्थन करने में अत्यन्त दुःख व अत्यन्त अज्ञान की प्राप्ति होने को देखना, बुरे कामों, विचारों को करने में अपनी बहुत बड़ी हानि को सामने रखकर चलना प्रतिपक्ष भावना कहलाती है। इससे बुरे विचारों से बचकर श्रेष्ठता की ओर व्यक्ति अग्रसर होता है। ये सब उपाय बुरे विचारों से बचने के हैं।

इन सब उपायों का उपाय ज्ञान है। जितना हमारा ज्ञान का स्तर होगा, उतना ही हम उपरोक्त उपायों को कर सकेंगे और जितना-जितना हम इन उपायों को करेंगे, उतना-उतना मन के बुरे विचारों से दूर रहेंगे।

जिज्ञासा ३- सूक्ष्म शरीर के १७ तत्त्व कौन-कौन से हैं? कृपया, बताने की कृपा करें।

- वेद प्रकाश गुप्ता, एफ १-३-३, सेक्टर ३-४,

'ज्ञानदीप', वाशी, नवी मुम्बई-४००७०३

समाधान- शरीर तीन हैं- स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इनमें से सूक्ष्म शरीर का स्वरूप महर्षि लिखते हैं- 'पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म भूत, मन तथा बुद्धि, इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय सूक्ष्म शरीर कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्ममरणादि में भी जीव के साथ रहता है।' यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के आश्रय से ही कार्य करता है, बिना स्थूल शरीर के यह कार्य नहीं कर सकता। जैसे स्थूल शरीर आत्मा का कर्म करने का साधन है, वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर भी साधन ही है। अन्तर इतना ही है कि आत्मा केवल सूक्ष्म शरीर से अपने प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता। आत्मा के प्रयोजन तभी सिद्ध होते हैं, जब इसको (सूक्ष्म शरीर के साथ) स्थूल शरीर भी प्राप्त हो जाता है।

जिज्ञासा ४- महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ९वें समुल्लास में मुक्ति के आनन्द को भोगनेवाले जीव को गुण स्वरूप सूक्ष्म शरीर वा संकल्प शरीर भी कहते हैं। यह किस प्रकार प्राप्त होता है और कब व किससे या किस समय चालू होता है?

- स्वामी जिलानन्द वैदिक आश्रम, ग्रा. बिजोपुरा, पो. छपार, जनपद मुजफ्फरनगर, उ.प्र.

समाधान- हमने पहले भी जिज्ञासा समाधान में लिखा था कि आत्मा मुक्ति का सुख अपने स्वाभाविक सामर्थ्य से भोगता है न कि किसी प्राकृतिक साधनों से। आपने महर्षि दयानन्द का नाम लेते हुए लिख दिया कि 'मुक्ति के आनन्द......। जिस संकल्प वा अभौतिक अथवा स्वाभाविक शरीर से आत्मा मुक्ति के आनन्द का भोग करता है, वह कहीं किसी प्रकार से प्राप्त नहीं होता। उसका कहीं से प्रारम्भ नहीं है, वह आत्मा का अपना स्वरूप है, जो कि आत्मा के साथ सदा रहता है। आत्मा का अपना स्वरूप अनादि है। इसका न तो कहीं प्रारम्भ है और न ही अन्त। इसी अपने

स्वाभाविक स्वरूप से आत्मा मोक्ष सुख परमेश्वर की कृपा से भोगता है।

जिज्ञासा ५- क्या यह सम्भव है कि प्राणी सुख भी ले और राग भी उत्पन्न न हो? किसी वस्तु का मात्र उपयोग करने पर तो सम्भव है कि राग उत्पन्न न हो।

- रामगोपाल गर्ग

समाधान - हाँ, यह सम्भव है कि प्राणी सुख भी लेवे और राग उत्पन्न न हो। यह स्थिति वीतराग अवस्था में ही सम्भव है, अर्थात् विवेकख्याति प्राप्त योगी वस्तु में सुख लेते हुए राग उत्पन्न नहीं होने देता। विवेकख्याति उत्पन्न होने से पूर्व सुख लेते हुए राग उत्पन्न हो सकता है। इसको यूँ भी कह सकते हैं कि जब व्यक्ति विद्या से युक्त होकर सुख लेता है, तब राग उत्पन्न नहीं होता और इसके विपरीत जब व्यक्ति अविद्या से युक्त होकर सुख लेता है, तब राग उत्पन्न होता है।

आपने कहा कि किसी वस्तु का मात्र उपयोग करने पर यह सम्भव है, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि अविद्या से युक्त होकर उपयोग कर रहा है तो राग होगा ही। मुख्य रूप से राग न होने का कारण विद्या है और राग होने का कारण अविद्या।

जिज्ञासा ६- वेदों व उपनिषदों में अथवा उपदेशकों द्वारा अवगत हुआ है कि भूतकाल की सुलझी-अनसुलझी चर्चाओं, विषयों को दफना देना चाहिये, किन्तु अनेकानेक उपायों द्वारा भूतकाल की बातों को दफनाने में आत्मा व मन अक्षम हो रहे हैं।

मेरी आयु ८४ वर्ष की है, तथापि स्मरण शक्ति का ह्रास अभी भी नहीं हुआ है। भूतकाल की बातों व चर्चाओं से में अत्यन्त दुःखी हूँ।

- रामनारायण जिज्ञासु, एच.बी.आर. औषधि भण्डार,

बिलासपुर, छ.ग.

समाधान - हमारे मन में अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे संस्कार विद्यमान

रहते हैं। इन्हीं संस्कारों के आधार पर हम अच्छे-बुरे कर्म करते रहते हैं। ऐसा करके उन संस्कारों को हम और गहरा कर लेते हैं। संस्कार जन्य ज्ञान, कर्म, उपासना के बिना हम एक क्षण भी नहीं रह रहे होते। अपने शुद्ध संस्कारों के आधार पर व्यक्ति या तो शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म वा शुद्ध उपासना करता है अथवा अशुद्ध संस्कारों के आधार पर अशुद्ध ज्ञान, अशुद्ध कर्म वा अशुद्ध उपासना करता है। ऐसा करने पर हमारे उसी प्रकार के संस्कार अधिक-अधिक गहरे होते चले जाते हैं। जो संस्कार (शुद्ध अथवा अशुद्ध) अधिक प्रबल होंगे, हम उन्हीं संस्कारों के वशीभूत होकर कर्म कर रहे होंगे, करते हैं। इसलिए हमें अपने मन पर जितना हो सके उतना अच्छे संस्कारों की छाप डालनी चाहिए, अर्थात् अच्छी वृत्तियाँ उठाएँ, अच्छे कार्य करें, शुद्ध ज्ञान का अवलम्बन करें, शुद्ध उपासना करें, इससे हमारे संस्कार परिष्कृत होंगे, अच्छे बनेंगे। इसके विपरीत संस्कार परिष्कृत नहीं होंगे।

वेद अथवा उपनिषद् में ऐसा आया हो कि भूतकाल की सुलझी-अनसुलझी चर्चाओं को, विषयों को दफना देना चाहिए- ऐसा पढ़ा-सुना तो नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि अपने ज्ञान को बढ़ाकर अविद्या के संस्कारों को नष्ट कर देना चाहिए, जिससे जीवात्मा निर्मल होकर मोक्ष को प्राप्त हो सके। संस्कारों को नष्ट कर देने पर व्यक्ति पिछली बातों को भूलता तो फिर भी नहीं।

उपदेशकों द्वारा जो आपको अवगत हुआ, वह केवल अनसुलझी बातों के लिए हो सकता है और जो बातें सुलझ गईं हैं, उनको भूलना नहीं होता, उनसे जो अनुभव प्राप्त हुआ है, उससे अपने कार्य सिद्ध करने होते हैं, न कि उनको दफनाना। अब रही अनसुलझी बातों को दफनाने वाली बात तो यह हमें उचित प्रतीत नहीं हो रहा, क्योंकि जो अनसुलझी बात है, उसको सुलझाने में ही कल्याण है। ये क्या कि अनसुलझे को अनसुलझा ही छोड़

दें। बुद्धिमत्ता और निपुणता तो इसी में है कि जो बात अनसुलझी है, उसको सुलझा लें; अनसुलझा न छोड़ें। कभी-न-कभी तो सुलझाना ही पड़ेगा- आज नहीं तो कुछ काल बाद, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्मों में। जिस जीवात्मा ने अपने ज्ञान को सुलझा लिया है, वही जीवात्मा संसार व ईश्वर से सुलझा हुआ व्यवहार करके मोक्ष को प्राप्त करता है और इसके विपरीत जो जीवात्मा अपने ज्ञान को नहीं सुलझा पाया, वह संसार व ईश्वर से भी सुलझा हुआ व्यवहार न करके अपने-आपको संसार में ही उलझाये रखता है, इसलिए सुलझी-अनसुलझी बातों को दफनाएँ नहीं। सुलझी बातों का लाभ उठावें और अनसुलझी को सुलझा लेवें।

आपके कथन से जो प्रतीत हो रहा है, अब उस पर आते हैं। सुलझी-अनसुलझी बातों से आपका अभिप्राय सुख देने वाली व दुःख देने वाली बातों से है। उनको आप भूलना, दफनाना चाहते हैं। उनको दफनाइये मत। आप उनको द्रष्टा भाव से देखिए, उनका सामना कीजिए। उनसे भागिए मत। कब तक भागेंगे? भागते-भागते तो वृद्धावस्था आ गई। इनका तो सामना करना ही पड़ेगा। जो सामना कर इनको अपने वशीभूत कर लेता है, वही वीर कहलाता है। यथार्थ में इस काम को सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता, इस काम को एक उत्तम कोटी का उपासक कर सकता है। उत्तम कोटी का साधक इन बातों से प्रभावित नहीं होता। भूलता तो वह भी नहीं है, किन्तु दुःख देने वाली वा सुख देने वाली बातों का अपने ऊपर प्रभाव नहीं पड़ने देता।

सामान्य व्यक्ति के ऊपर इनका प्रभाव अवश्य पड़ता है अथवा यूँ कहिए, वह इनसे प्रभावित होता रहता है, इसलिए वह कभी सुखी तो कभी दुःखी होता रहता है। सामान्य व्यक्ति सुलझी हुई, सुख देने वाली बातों को दफनाना- भूलना भी नहीं चाहता। हाँ, अनसुलझी दुःख देने वाली बातों को वह अवश्य भूलना-दफनाना चाहता है, जो कि उसकी

नासमझी का द्योतक है। समझदारी इसी में है कि व्यक्ति अपने विवेक को बढ़ाए, परिस्थितियों को समझे और अपने-आपको दु:खी न होने दे।

इस संसार में परमेश्वर की ऐसी व्यवस्था है कि व्यक्ति के ऊपर कितना भी बड़ा दु:ख क्यों न आ जाये, वह दु:ख कालक्रम से स्वाभाविक रूप से दूर होता चला जाता है। दु:ख के स्मृति में रहते हुए भी उसे वह भूल-सा जाता है, किन्तु जब कभी वह स्मृति उभरती है, तब व्यक्ति पुन: दु:ख की अनुभूति करता है, परन्तु जैसे पहले दु:ख हुआ था वैसी अनुभूति नहीं कर रहा होता है, अल्प दु:ख की अनुभूति कर रहा होता है।

विवेकी व्यक्ति इस दु:ख को देखकर संसार से वैराग्य को प्राप्त करता है व अविवेकी दु:ख को देख शोक को प्राप्त होता रहता है।

आपकी अवस्था ८४ वर्ष की है और आपकी स्मरण शक्ति का ह्रास नहीं हुआ है, यह आपके लिए प्रसन्नता की बात है। जब आप स्मरण करेंगे कि कितनी बातें सुलझी हुई हैं और कितनी अनसुलझी तो आप पायेंगे कि बहुत-सी बातें सुलझी हुईं हैं, जिन पर आप ध्यान नहीं देते। आपका ध्यान उन थोड़ी-सी अनसुलझी बातों पर जाता है जो आपको दु:ख देती हैं। आप इस जीवन के अन्तिम पड़ाव में सुखदायक बातों का स्मरण कर प्रभु भक्ति करते हुए अपने शेष जीवन को आनन्दपूर्वक व्यतीत करें, इसी में आत्मा का कल्याण है और हो सके तो सावधान होकर ईश्वर का सहारा लेते हुए अनसुलझी बातों को सुलझा लेवें। ये सुलझन अगले जन्म में भी काम आयेगी।

जिज्ञासा ७- पुस्तक-सत्यार्थप्रकाश प्रश्नोत्तरी, लेखक श्री कन्हैयालाल जी गुड़गाँव, की पृष्ठ संख्या ६६५ पर-

'प्रश्न २२७- जैसे शरीर के बिना सांसारिक सुख नहीं भोग सकता, वैसे मुक्ति में बिना शरीर आनन्द को कैसे भोग सकेगा? उत्तर-सांसारिक सुख भौतिक शरीर के साथ भोगे जाते हैं, परन्तु मुक्ति का सुख अभौतिक

शरीर, जिसे सूक्ष्म शरीर कहा जाता है, उसके द्वारा भोगा जाता है, पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि इन १७ तत्त्वों का समुदाय सूक्ष्म शरीर है, यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मरण आदि में जीव के साथ रहता है, इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है।'

इस पर मेरी शंकाएँ हैं-

(१) अभौतिक शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों को एक मानना क्या ठीक है?

(२) सूक्ष्म शरीर क्या मुक्ति में बना रहता है?

(३) सूक्ष्म शरीर के साथ मुक्ति सुख भोगना सम्भव है?

इन पर सत्यार्थप्रकाश में भी प्रश्न उठाया गया है-

प्रश्न- फिर वह सुख और आनन्द भोग कैसे करता है?

उत्तर- उसके सत्य-संकल्प आदि स्वाभाविक गुण=सामर्थ्य सब रहते हैं 'सत्यार्थप्रकाश--नवम समुल्लास पृष्ठ संख्या २८६'

दूसरा- स्वाभाविक जो जीव के स्वाभाविक गुण रूप हैं, यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है, इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है।

कृपया, इस विषय में अपनी स्पष्टता दें।

- राज कुकरेजा, करनाल, हरियाणा

समाधान - मुक्ति के विषय में दर्शन शास्त्रों व उपनिषदों के ऋषियों ने विस्तार से वर्णन किया है। किसी भी ऋषि ने मुक्ति में आत्मा के विशुद्ध स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भौतिक साधन को नहीं माना। मुक्ति में तो आत्मा अपने स्वभाविक स्वरूप से परमात्मा के आनन्द का भोग करता है, वहाँ आत्मा को किसी और साधन की आवश्यकता नहीं होती।

आप सिद्धान्तों को जानने वाले हैं, इसलिए आपने (सत्यार्थप्रकाश प्रश्नोत्तरी) पुस्तक में आयी असंगत बात को पकड़ लिया, इस कारण आपने

अन्य पाठकों के लाभार्थ प्रश्न भेजे हैं। इसका उत्तर लिखने से पहले हम आपको अवगत करा दें कि इस पुस्तक के लेखक श्री कन्हैयालाल जी से मेरी वार्ता हो चुकी है। उनका कथन है कि जो भी इस संस्करण में त्रुटि रह गई, वह अगले संस्करण में सुधार लेंगे। अस्तु।

अब आपके प्रश्नों के उत्तर-

अभौतिक शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों को एक मानना ठीक नहीं है। दोनों भिन्न है। अभौतिक शरीर आत्मा का अपना विशुद्ध स्वरूप ही है। इसके लिए महर्षि ने लिखा- ''दूसरा स्वाभाविक, जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप हैं।'' इस अभौतिक शरीर को जीव के २४ प्रकार के सामर्थ्य भी कहा जा सकता है। ये २४ सामर्थ्य - बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भय, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान है। इसी सामर्थ्य से युक्त आत्मा मुक्ति का सुख भोगता है।

सूक्ष्म शरीर की सत्ता पृथक् है। यह प्रकृति के तत्त्वों से बना होता है। महर्षि दयानन्द के अनुसार यह १७ तत्त्वों का है। यही सूक्ष्म शरीर जीवात्मा के साथ जन्म-मरण में आता-जाता है। यह सूक्ष्म शरीर जीवात्मा को परमेश्वर उसके कर्मों के अनुसार सृष्टि के आदि में देता है। यह शरीर जीवात्मा के साथ तब तक लगा रहता, जब तक उसकी मुक्ति नहीं हो जाती।

सूक्ष्म शरीर आत्मा की मुक्ति होने के बाद प्रलय को प्राप्त हो जाता है। मुक्ति के बाद आत्मा का इससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जब यह प्रलय को प्राप्त ही हो गया तो मुक्ति में आत्मा के साथ रहने वाली बात भी समाप्त हो गई।

पाठकों को यह भी जना दें कि इस सूक्ष्म शरीर का प्रयोग आत्मा स्थूल

शरीर के माध्यम से ही कर सकता है, अर्थात् बिना स्थूल शरीर के सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता आत्मा को भौतिक जगत् में ही पड़ती है, मुक्ति में नहीं।

सूक्ष्म शरीर के साथ मुक्ति सुख भोगना सम्भव नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म, स्थूल शरीरों का सम्बन्ध बद्ध जीवात्माओं के साथ होता है, मुक्त जीवात्माओं के साथ नहीं। शरीर के माध्यम से आत्मा भौतिक सुख-दुःख को ही ग्रहण कर सकता है, अभौतिक परमेश्वर के सुख को नहीं। परमेश्वर के सुख को भोगने के लिए तो जीवात्मा का अपना सामर्थ्य काम करता है। महर्षि लिखते हैं- 'उसके सत्य संकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिक संग नहीं रहता। जैसे **शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति।।** मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वभाविक शुद्ध गुण रहते हैं।..... जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।' (स.प्र.९) इसलिए मुक्ति में सूक्ष्म शरीर की कोई आवश्यकता नहीं है।

जिज्ञासा ८- मन और उसका बल- कहते हैं कि मन बड़ा बलवान है, वही सब अच्छे बुरे काम करवाता है। गीता में कहा है-

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।"

मन ही हाथी पर बैठाता है और वही गधे की सवारी करवाता है। मन ही राजा-रंक बनाता है। दुनिया में बड़े-बड़े योद्धा, महाबली हुए, जो विश्व विजयी कहलाये। मन के कारण ही दुनिया की जेल अपराधियों से भरी हुई है। मन ही योगी और भोगी बनाता है। मन बड़ा बलवान है, किन्तु जो मनोजयी हो जाते हैं, वे लोग कुछ भी करने में समर्थ होते हैं। दूसरी तरफ कहते हैं, मन जड़ है। उसको पकड़ कर मनुष्य कुछ भी प्राप्त कर सकता

है, इसीलिए दुनिया में तपस्वी लोग तप करके मन को जीतने का प्रयत्न करते हैं। एक कहावत है- 'मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर, मन के पते न चाहिए, पलक-पलक मन और' यह बात बिल्कुल सही है। इसीलिए मनोजयी, मनस्वी लोगों ने दुनिया में राज किया, बाकी के जिन्दगी को भार समझ कर ढोते रहे।

फिर क्या करें इस मन का ? जो मन जड़ है, उसकी इतनी ताकत कहाँ से आई ? बेशक मन जड़ है, किन्तु चैतन्य के सहारे वह चलता है। मनुष्य के अन्दर बैठी अन्तरात्मा ही सब कुछ करवाती है। उस अन्तरात्मा में इतनी शक्ति कहाँ से आई ? इसका उत्तर है- ईश्वर से। कहते हैं अन्तरात्मा=जीवात्मा परमात्मा का अंश है। साधना करो, परमात्मा का साक्षात्कार हो जाएगा। मनुष्य सबसे बड़ा बलवान हो जाएगा। बेचारे जड़ मन की क्या औकात ! इसीलिए कहते हैं, मनोजयी बनो। ईश्वर को प्राप्त करो। क्या सत्य है ? इसी पर विचार करना है, यही है एक जिज्ञासा। एक और बात, मनुष्य बेचारा बड़ी उलझन में फँसा है। ईश्वर को न मानने वाले भी खुश हैं, फिर यह ईश्वर कहाँ से बीच में आ गया ? बड़े-बड़े नास्तिक भी मस्त हैं, ईश्वर की सत्ता को न मानकर, फिर भी ईश्वर उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। यह भी देखने में आता है। तो फिर ईश्वर की क्या हस्ती है, यही है जिज्ञासा। इसका समाधान चाहिए।

- डॉ. एस.एल. वसन्त, बी-१३८४, नागपाल स्ट्रीट,
फाज्लिका, पंजाब

समाधान- निश्चित रूप से मनुष्य का मन बड़ा बलवान है। मन के कारण ही आत्मा महान् व निम्न कोटि का बनता है। मन के कारण आत्मा परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है और मन के कारण ही अनेक सृष्टियों में दुःख भोगता फिरता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। मन के विषय में इतना सब लिखा होने पर भी **हम आपको बता दें कि मन कर्त्ता नहीं है,** मन करण है, साधन है। और जो आपने उपरोक्त श्लोकांश को गीता का कहा है, सो गलत है। हम पहले भी जिज्ञासा समाधान में इसका पता दे चुके हैं, अब पुनः लिख रहे हैं- चाणक्य नीति अ. १३ श्लोक ११ और यही श्लोकांश पंक्तिविपर्यय से मैत्रायण्युपनिषद् ६.३४ में मिलता है। अब आपकी जिज्ञासा पर आते हैं। हमने कहा- मन कर्त्ता नहीं है, अपितु करण है। जहाँ कहीं मन को कर्त्ता कहा है वा कहा जाता है, वह गौण रूप से कहा जाता है। मन एक जड़ वस्तु है, इसका उपयोग चेतन आत्मा करता है। मन के अन्दर परमेश्वर ने सामर्थ्य बहुत अधिक रख रखा है। जो आत्मा जितना ज्ञानी है, वह मन का उतना प्रयोग कर पाता है। जैसे किसी मशीन में अनेक कार्य करने के कलपुर्जे किसी शिल्पी ने लगाये हैं। वह शिल्पी इस मशीन से होने वाले सभी कार्यों से परिचित है। वह इससे अनेक काम ले लेता है, किन्तु जो सभी कामों की क्षमता को नहीं जानता, वह उससे एक-दो काम ही ले पाता है। वैसे ही मन के विषय में जानें।

मन बहुत सामर्थ्य युक्त परमेश्वर द्वारा बनाया हुआ होने पर भी उससे आत्मा एक समय में एक ही काम ले सकता है, क्योंकि परमेश्वर ने इसको बनाया ही ऐसा है। हमें जो एक समय में इसके द्वारा अनेक कार्य होते दिखाई देते हैं, वे इसलिए, क्योंकि परमात्मा ने इसको बहुत तीव्र गति वाला बनाया है। इसकी गति इतनी तीव्र है कि हम समय को नहीं पकड़ पाते, हाँ विद्वान्, साधक, योगी व्यक्ति तो इसकी गति को समझ, पकड़ लेते हैं। जैसे हमें कमल के सौ पत्तों की तह में सुई से एक साथ छेद होता दिखाई देता है, वैसे मन से अनेक कार्य होते दिखते हैं। इसमें यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो पता लगता है कि जैसे कमलपत्र एक साथ छिदते दिखते हुए भी एक साथ, एक बार में नहीं छिदते, अपितु ऊपर एक-एक

पत्ते में क्रम से छेद होता है। वैसे ही मन से एक साथ अनेक कार्य एक साथ होते दिखते हुए भी एक साथ, एक बार न होकर क्रमशः होते हैं।

आत्मा मन से बहुत से कार्य लेता रहता है, जब जो कार्य लेता तब मन को उस नाम से भी कह दिया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में वे कार्य व नाम मन के कहे हैं–

'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति।'

– श.कां. १४.४.३.९

कामः– प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना इसका नाम काम है।

संकल्पः– जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिए प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है, उसको संकल्प कहते हैं।

विचिकित्सा– जो-जो काम करना हो, उस-उस को प्रथम शंका कर-करके ठीक निश्चय करने के लिए जो सन्देह करना है, उसका नाम विचिकित्सा है।

श्रद्धा– जो ईश्वर और सत्यधर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है, उसको श्रद्धा जानना चाहिए।

अश्रद्धा– अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिए।

धृतिः– सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि के होने पर भी अपने धीरज को न छोड़ना, उसका नाम धृति है।

अधृतिः– बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं।

ह्रीः– अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है, उसको ह्रीः कहते हैं।

धीः– जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करने वाली वृत्ति है, उसको धीः कहते हैं।

भीः– जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उससे उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना, अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है, ऐसा जानकर उससे सदा डरना, कि मैं जो पाप करूँगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा, इसको भीः कहते हैं। इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम मन है। (महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका) ये इतने सारे कार्य मन के हैं। जो व्यक्ति जितना विवेकी होता है, वह मन को नियन्त्रित कर ये सब कार्य कर परमेश्वर को प्राप्त हो आनन्द में रहता है। विवेक शून्य व्यक्ति मन से ये कार्य न कर दुःख भोगता रहता है।

मन प्रकृति से निर्मित होने से जड़ है और आत्मा को ज्ञान कराने में प्रमुख साधन है। इन्द्रिय और आत्मा के मध्य में मन न हो तो आत्मा को बाह्य जगत् का कोई ज्ञान न हो सकेगा। क्यों न आँख खुली हुई हो, किसी रूप की ओर हो, किन्तु आँख का सम्बन्ध जब तक मन से नहीं होगा, तब तक आत्मा को रूप का ज्ञान भी नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य विषयों के सम्बन्ध में जानें। जब व्यक्ति को यह निश्चय हो जाता है कि मन जड़ वस्तु है, इसको चलाने वाला मैं हूँ, तब वह मनोजयी होने लगता है और मनोजयी व्यक्ति अपने मन को किसी भी विषय में सरलता से हटा सकता है तथा किसी भी विषय में लगा सकता है। ऐसा मनोजयी व्यक्ति संसार पर राज करे न करे, किन्तु संसार के विषयों पर अवश्य राज करता है। आपने कहा– फिर क्या करें मन का? तो ऋषि के कथनानुसार इस जड़ मन को प्रतिपल धर्म में लगाये रखें, यही तो करना है। अपने कर्त्तव्य में लगाए रखें, आत्मोन्नति में लगाए रखें, इसके अभ्यास में मन को लगाए रखें। आप कहते हैं कि इस जड़ मन में इतनी ताकत कहाँ से आई? इस विषय में हमने ऊपर लिखा कि अनेक सामर्थ्य युक्त इसको परमात्मा ने बनाया है।

इस जड़ मन को आत्मा चलाता है। आत्मा के पास अपना सामर्थ्य होते हुए उसके पास अतिरिक्त ताकत परमेश्वर से आयी। जैसे-जैसे आत्मा सत्यधर्मयुक्त होकर पुरुषार्थ करता है, परमेश्वर उसको वैसे-वैसे विवेक, बलादि सामर्थ्य देता है। उसी ज्ञान, बल आदि से आत्मा अपने मन को पूर्ण नियन्त्रित कर लेता है, कर सकता है। आपने कहा "जीवात्मा परमात्मा का अंश ही है" यह आपका कथन निराधार तथा सिद्धान्त विरुद्ध है, वेद की मान्यता के प्रतिकूल है। जीवात्मा परमात्मा का अंश नहीं है, अपितु इसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। जैसे परमेश्वर की स्वतन्त्र सत्ता है, वैसी आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है। यदि आत्मा को परमात्मा का अंश मानेंगे तो आत्मा में भी परमात्मा वाले ज्ञान, आनन्द, निर्भयता, सर्वज्ञता आदि गुण होने चाहिए जो कि इसमें नहीं हैं। **अंश में अंशी के गुण अवश्य होते हैं।** यदि आत्मा परमात्मा का अंश होता तो सब परमात्मा के गुण आत्मा में भी होते। वेद का सिद्धान्त त्रैतवाद का है अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति- ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं और अनादि हैं। अद्वैत के निषेध और त्रैत की स्थापना के लिए महर्षि दयानन्द का सत्यार्थप्रकाश समु. ७-९ व ११वें को देखें, वहाँ महर्षि ने विस्तार से वेदानुकूल त्रैतवाद की मान्यता को रखा है।

अब रही ईश्वर को मानने वाले भी खुश और नास्तिक भी खुश वाली बात। इस विषय में हम आपको बता दें कि दोनों में अन्तर स्पष्ट है। जितना ईश्वर को मानने वाला निर्भय, शान्त, आनन्दयुक्त, धार्मिक, न्यायप्रिय, परोपकारी, सेवा करने वाला, शिष्टाचारी, सभ्य मिलेगा, उतना नास्तिक कभी नहीं हो सकता। भले ही सामान्य रूप से नास्तिक व्यक्ति ऊपर से प्रसन्न दिखता हो, किन्तु यथार्थ में वह प्रसन्नता उसके पास नहीं होती, जो प्रसन्नता सच्चे वेदोक्त ईश्वर को मानने वाले को होती है। यदि वह यथार्थ में प्रसन्न है तो वह उसकी प्रसन्नता उसके पुरुषार्थ के कारण है, यह पुरुषार्थ करने की आज्ञा परमेश्वर की है। उसकी प्रसन्नता में मूल कारण तो परमेश्वर

ही है।

प्रायः नास्तिक व्यक्ति इस शरीर को वर्तमान संसार तक सीमित रहता है। इसी वर्तमान शरीर को लेकर उसका कार्य व्यवहार होता है। ऐसी स्थिति में नास्तिक व्यक्ति अपने शरीर की पालना के लिए अधर्म अधिक करता है, जिससे वह भले ही प्रारम्भ में प्रसन्न दिखे, किन्तु अन्त उसका दुःखमय ही होता है। इसके विपरीत ईश्वर को मानने वाला इस लोक और परलोक दोनों को देखकर चलता है, जिससे उसका कार्य व्यवहार धर्ममय होता है। धर्ममय कार्य होने से ईश्वर भक्त को भले वर्तमान में कुछ कष्ट दिखते हों, किन्तु उसका परिणाम सुखमय ही होता है। उस परिणाम को विचार कर आस्तिक व्यक्ति वर्तमान के कष्ट में भी नहीं घबराता, इसलिए ईश्वर को मानने की आवश्यकता है। ईश्वर की सत्ता को मानने से व्यक्ति पूर्ण दुःख से निवृत्त हो जाता है, न मानने से दुःख पीछे लगे ही रहते हैं, इसलिए ईश्वर की सत्ता बहुत बड़ी है।

मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर में ही मन बुद्धि को युक्त कर विद्वानों के सङ्ग से विद्या को पा सुखी हो अन्य मनुष्यों को भी इसी प्रकार आनन्दित करें।

–महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ५.१४

साधना

जिज्ञासा १ – मेरी ध्यान में रुचि है, जप करता रहता हूँ, किन्तु जप, ध्यान से अभी तक विशेष उपलब्धि नहीं हुई है।

कृपया, बतावें कि जप किस प्रकार किया जाये, जप की विधि क्या है?

– विमलेश आर्य, सतना, म.प्र.

समाधान– जप, उपासना, ध्यान अच्छे प्रकार से हो सके, इसके लिए हमें अपने व्यवहार को सावधानी पूर्वक ठीक करना, रखना होता है। जितना अच्छा हमारा व्यवहार होगा, उतना ही अच्छा हमारा जप, उपासना, ध्यान भी होगा।

हमें जब कभी किसी काम में सिद्धि नहीं मिल रही होती, तब वहाँ या तो क्रिया दोषपूर्ण अथवा कर्त्ता वा साधन में दोष है। यदि ये तीनों ठीक हैं तो कार्य सिद्धि अवश्य होगी। अनेक बार कर्त्ता (साधक) ठीक व साधन ठीक होते हुए यदि क्रिया ठीक नहीं हो रही तो सफलता नहीं मिलती, इसी प्रकार यदि साधक व क्रिया ठीक हैं, किन्तु साधन उचित नहीं है तो भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती और क्रिया व साधन ठीक हैं, किन्तु कर्त्ता (साधक) ठीक नहीं है तो भी कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए कार्य सिद्धि के लिए इन तीनों का दोष रहित होना आवश्यक है।

कर्त्ता हम स्वयं हैं, साधन हमारा यमनियमादि एवं धर्मपूर्वक व्यवहार है और जप के समय हमारी क्या गतिविधि रहती है, यह क्रिया है।

संसार में कोई भी सुख निःशुल्क नहीं मिलता, हमें शुल्क अवश्य चुकाना पड़ता है– चाहे वह सुख भौतिक हो वा आध्यात्मिक। इसे यूँ समझें कि कोई व्यक्ति एक हजार रुपये लेकर बाजार जाता है, वह उन रुपयों से अच्छी वस्तु भी खरीद सकता है और बुरी वस्तु भी खरीद सकता है। यह उसके विवेक पर निर्भर करता है कि वह क्या खरीदे? इसी प्रकार जो

व्यक्ति अच्छे कर्म करके पुण्य अर्जित करता है, वह उस पुण्य से संसार का सुख भी ले सकता है और अध्यात्म का सुख भी ले सकता है। यह भी उसके विवेक पर निर्भर करता है कि वह कौन-सा सुख ले? संसार में जिसके पास जितना अधिक धन हो, वह उतना ही अधिक सामान ले सकता है, ठीक इसी प्रकार जिसके पास जितना अधिक पुण्य हो वह उतना अधिक सुख ले सकता है। जब संसार का सुख बिना पुण्यों के नहीं मिल सकता तो अध्यात्म का सुख बिना पुण्यों के क्यों कर मिल सकता है? इसलिए साधना, ध्यान, जप को बढ़ाने के लिए हमें सदा अपने को सुरक्षित रखते हुए उनको बढ़ाना होगा।

जप की विधि के लिए शास्त्र कहता है '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**' उसका जप और उसके अर्थ की भावना, अर्थात् जब हम ओ३म् आदि का जप कर रहे होते हैं, उस समय ओ३म् के अर्थ का विचार व उस अर्थ के साथ भावना का होना, यह पूर्ण जप होगा। केवल ओ३म् आदि की आवृत्ति मात्र जप नहीं है।

यह जप आप प्रारम्भ में बोलकर कर सकते हैं, इसका कुछ अभ्यास होने के बाद मात्र ओष्ठ तक ध्वनि रखते हुए और इसका भी अभ्यास होने पर मानसिक जप करना होता है। इसमें ओ३म् आदि का निरन्तर मानसिक उच्चारण, जिसमें वाक् इन्द्रिय का व्यापार नितान्त हट जाता है। ओ३म् के मानसिक उच्चारण के साथ प्रणव के अर्थ का निरन्तर चिन्तन करते रहना है। ओ३म् का वाच्य अर्थ परमात्मा है, उसके स्वरूप को ध्यान से न हटने देना- उसका चिन्तन है। यह स्थिति प्राप्त होना यद्यपि कठिन है, किन्तु दीर्घकाल के अभ्यास से इसका आभास होने लगता है। तब वह स्थिति साधक को निरन्तर अपनी ओर खींचती रहती है।

हम चाहने लगते हैं कि यह स्थिति बराबर, लगातार बनी रहे। अभ्यास के प्रारम्भ काल में मन का एक मिनट भी रुकना कठिन होता है।

ध्यान के लिए बैठते ही अभ्यस्त जीवन के अनेक विचार, संस्कार हमारे सामने उभरकर आ जाते हैं। **धीरे-धीरे उनको हटाते हुए ओ३म् का जप विधिपूर्वक करते रहना अपेक्षित होता है।**

जप के समय परमात्मा के विशुद्ध स्वरूप को अपने सामने अवश्य रखे रहना चाहिए। जैसे ओ३म् का अर्थ रक्षक है, अर्थात् परमात्मा सबका रक्षक है। परमात्मा के इस रक्षक स्वरूप को अपने मन में निश्चय पूर्वक स्थापित करना चाहिए, अर्थात् हमारे मन की स्थिति संशय रहित होवे परमात्मा के रक्षक स्वरूप को लेकर। दृढ़ निश्चय हमारे मन में यह होना चाहिए कि परमात्मा ही रक्षक है, परमेश्वर जैसा रक्षक अन्य कोई नहीं। इस प्रकार निश्चय पूर्वक जो जप किया जाता है, वह जप फलदायक होता है।

जो साधक गायत्री आदि का जप एक लाख, सवा लाख, करोड़ आदि करते हैं, उनका जप बिना अर्थ और भावना के निष्फल है। वह तो मात्र रटन्त विद्या जैसा है। तोते की तरह घोकना मात्र है। हाँ, यदि ये साधक अर्थ भावनापूर्वक एक बार भी ओ३म् गायत्री आदि का जप करते हैं, उसके अर्थ के साथ तल्लीन हो जाते हैं तो उनका यह जप परम शान्ति देने वाला सिद्ध होगा। **जप में संख्या का महत्त्व नहीं है, महत्त्व तो अर्थ भावना का है।**

साधक जप के लिए अपनी दैनिक चर्या में निश्चित समय को महत्त्व अवश्य दे। अपना नित्यकर्म करके जप का समय निर्धारित रखे। जप से पहले अपने सभी आवश्यक कार्यों को अवश्य निपटा लेवे, अन्यथा जप में बाधा आयेगी। जप के लिए दोनों समय निर्धारण कर ले और नियत समय पर जप करे। निर्धारित समय के अतिरिक्त भी यदि जप की इच्छा हो और अन्य आवश्यक कार्य हमारे पास न हों **तो अन्य समय भी जप किया जा सकता है। इससे हमारे अन्दर मन को एकाग्र करने की**

योग्यता बढ़ती जायेगी।

जप के लिए शान्त एकान्त स्थान को वरीयता देनी चाहिए। जप अनुष्ठान के लिए स्थान की अनुकूलता बड़ा महत्त्व रखती है, इसलिए ऋषियों ने जप के लिए उत्तम स्थान नदी, तालाब का तट कहा है। महर्षि लिखते हैं–

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः।।

– मनु. २.७९ (१०४)।

"जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा, सावधान होके, जल के समीप स्थित होके, नित्य कर्म करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे, परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)

यहाँ स्थान की दृष्टि से जल के समीप एकान्त देश को कहा है। जप करने वाले साधक को इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि वह **अपने अतिरिक्त समय को व्यर्थ न जाने दे, उस समय में साधक सेवा, परोपकार और अध्यात्म सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन पारायण अवश्य करता रहे। अपने समय को इधर-उधर के कार्य वा साहित्य के अवलोकन में नष्ट न करे।** यदि ऐसा करता है तो वह अपने निर्धारित मार्ग से भटक सकता है, भटकने की सम्भावना अत्यधिक हो जाती है। सेवा, परोपकार, अध्यात्म ग्रन्थों का पर्यालोचन साधक के विचारों को इच्छित मार्ग के अनुकूल बनाये रखता है। ऐसा करने से शीघ्र आत्म लाभ होता है।

जप करते हुए उच्चारण के समय ही यदि अर्थ भावना को हम कर लेते हैं तो यह अच्छी स्थिति है। यदि उच्चारण के साथ अर्थ भावना नहीं कर पाते हों तो पहले उच्चारण कर लें, उसके बाद अर्थ भावना बना लेवें, ऐसा

बार-बार करें, यह जप की विधि है। ऐसा करते हुए बीच-बीच में अपना निरीक्षण अवश्य करते रहें कि मैं कितनी देर तक जप में लगा रहा और कितनी देर तक बाह्य विषय में मन को लगाया, ऐसा करने से अपनी कमजोरी पकड़ में आयेगी। उस कमजोरी को पकड़कर उसे दूर कर सकते हैं। निरीक्षण करें कि जप करते हुए हम तनाव-खिचाव में तो नहीं हैं, यदि हैं तो दूर कर सामान्य स्थिति बनाने का प्रयास करते रहें। ऐसा करने से हमारा जप ठीक प्रकार से हो सकेगा।

जिज्ञासा २- (क) सन्ध्या और ध्यान में क्या अन्तर है।

(ख) ये दोनों करें या केवल सन्ध्या या केवल ध्यान?

(ग) सन्ध्या से अधिक ध्यान में मन एकाग्र होता है, क्यों?

वैसे मुझमें कई कमियाँ हैं, जैसे- मुझे सन्ध्या याद नहीं है, सन्ध्या और ध्यान दोनों के लिए समय नहीं निकाल पाता हूँ। कृपया, उचित मार्गदर्शन प्रदान करें।

- कैलाश धाकड़, खाचरौद

समाधान - (क) सन्ध्या और ध्यान में कोई भिन्नता नहीं है। **जो काम सन्ध्या में किया जाता है, वही काम ध्यान में भी किया जाता है।** हमें अन्तर इसलिए दिखता है, क्योंकि सन्ध्या को हम सन्ध्या मन्त्रों के पाठ मन अथवा वाणी से करने में देखते हैं और ध्यान किसी एक मन्त्र अथवा ओ३म् के जप या चिन्तन करने को मानते हैं। यथार्थ में तो दोनों एक ही हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी दोनों शब्द सन्ध्या और ध्यान एक ही धातु **'ध्यै'** से निष्पन्न होते हैं, जिसका अर्थ है चिन्तन करना। चिन्तन रूपी कार्य दोनों में रहता है। सन्ध्या का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं- "**सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या**= भली भाँति ध्यान करते हैं वा ध्यान किया जाये परमेश्वर का जिसमें, वह सन्ध्या (कहाती है।)" पं.वि.।। और ध्यान के विषय में महर्षि का वचन है

"…..उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ध्यान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है।" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।। महर्षि के अनुसार दोनों में ही परमेश्वर का स्मरण विशेष है, इसलिए दोनों में अन्तर नहीं है।

(ख) आपका दूसरा प्रश्न पूर्वोक्त समाधान के अनुसार नहीं बनेगा, इसलिए ईश्वर समर्पण कर उसका स्मरण करते रहिए।

(ग) यहाँ भी पूर्वोक्त समाधान के अनुसार इन दोनों को एक मानकर चिन्तन करेंगे तो सन्ध्या में भी एकाग्रता बनेगी। जैसे ध्यान करते हुए चिन्तन विशेष करते हैं, वैसे ही सन्ध्या करते हुए भी मन्त्रों का चिन्तन विशेष करिये, दोनों में समान अनुभूति होगी। जो व्यक्ति जितना गहरा चिन्तन करेगा, उसका बाह्य क्षेत्र (विषय) छोटा होता चला जायेगा और जो कम गहरा चिन्तन करता है, उसका बाह्य विषय अधिक रहेगा। अर्थात् जब व्यक्ति एक ही मन्त्र अथवा उस मन्त्र के पद विशेष पर गहराई से चिन्तन करते हुए परमेश्वर के स्वरूप को देखता है, तब उसके अन्य मन्त्र अथवा मन्त्र के अन्य पद छूट जाते हैं और वह थोड़े से में ही ध्यान की गहराई में चला जाता है, यह बहुत अच्छी स्थिति है। और जब व्यक्ति की स्थिति गहराई में जाने की नहीं है, तब वह किसी एक मन्त्र, दो मन्त्रों अथवा सन्ध्या के सभी मन्त्रों को लेकर चिन्तन करता है, करेगा। जब अच्छी स्थिति बनेगी और व्यक्ति एक ही मन्त्र पर चिन्तन करता चला जायेगा, दूसरे मन्त्र पर चिन्तन नहीं कर पायेगा, तब कदापि यह नहीं सोचना चाहिए कि हमारी सन्ध्या छूट गई अथवा पूरी नहीं हुई, अपितु उस एक ही मन्त्र से बनी हुई अच्छी स्थिति को देखकर सन्तोष की अनुभूति करें, करनी चाहिए। यदि हमें सन्ध्या के मन्त्रों का अर्थ ठीक से स्मरण है और हम उन अर्थों का चिन्तन करते हैं तो सन्ध्या में भी ध्यान जैसी एकाग्रता बनेगी।

यह अच्छी बात है कि आप अपनी त्रुटि-कमी स्वीकार कर रहे हैं। कमी देखी है तो उसको दूर कर सन्ध्या के मन्त्रों को याद कर, ध्यान के लिए समय निकालेंगे- ऐसी हम आशा करते हैं।

जिज्ञासा ३- उद्धगीत प्राणायाम है या जप? श्वास व प्राण में क्या अन्तर है व प्राण तत्त्व क्या है?

डॉ. अशोक कुमार गुप्त, ग्रा.पो. चाँदपुरी, बेहट रोड, वेद मन्दिर, सहारनपुर, उ.प्र.

समाधान - यह उद्धगीत शब्द न होकर **उद्गीथ शब्द है,** इस उद्गीथ का बिगड़ा हुआ रूप उद्गीत है। यह उद्गीथ न प्राणायाम है और न जप है, इसको ओ३म् का पर्यायवाची शब्द समझें। जैसे- ओ३म् को प्रणव कहते हैं, वैसे इसको उद्गीथ भी कहते हैं। उद्गीथ का अर्थ महर्षि दयानन्द लिखते हैं- "**य उद्गीयत उच्चैः शब्द्यते स उद्गीथः, सामध्वनिः, प्रणवो वा।**" उ.कोष. २.१० जो ऊँचे स्वर से गाया जाता, वह उद्गीथ कहाता, वह गाया जाने वाला सामगान हो अथवा ओ३म् हो वही उद्गीथ है। इस उद्गीथ के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में विस्तार से वर्णन किया है। वहाँ से दो प्रसंग यहाँ लिखते हैं-

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्।। छा.उ. १.४.१।। ओम्- यह अक्षर 'उद्गीथ' है, इस उद्गीथ की उपासना कर....।

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति।

- छा.उ. १.५.५

जो उद्गीथ है, वही प्रणव है, जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। इन उपनिषद् वचनों से ज्ञात हो रहा है कि ओम्-प्रणव-उद्गीथ एक ही हैं। इस विषय में श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार लिखते हैं- "ओंकार के लिए ऋग्वेदी 'प्रणव' शब्द का प्रयोग करते हैं, सामवेदी 'उद्गीथ' शब्द का।

यहाँ कहा गया है कि 'प्रणव' तथा 'उद्गीथ' एक ही हैं...... ।''

श्वास शरीर में प्राणवायु को लेने और छोड़ने का नाम है और शरीर को धारण करने वाली जीवनशक्ति का नाम प्राण है। दोनों में अन्तर विशेष नहीं है। यदि अन्तर करना चाहें तो एक में वायु को लेना और छोड़ना क्रिया विशेष, दूसरे में जीवनी शक्ति विशेष है। प्राण शब्द का भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ मिलता है। मुख्य रूप से शरीर को धारण करने वाला, जीवन का मूल शरीरस्थ वायु विशेष का नाम प्राण शब्द से रूढ़ हो गया है। प्राण शब्द के अन्य अनेक अर्थों में परमात्मा, आत्मा, मन, इन्द्रियाँ, बल, ऊर्जा, शक्ति, सामर्थ्य, प्रिय व्यक्ति विशेष, चन्द्रमा, सोम, वरुण, अर्क (सूर्य), सविता, अमृत, यज्ञ का उद्गाता, सामवेद, भरत (धारण-पोषण करने वाला), वाचस्पति, रस, दीक्षा, पशु, मनुष्य, ज्येष्ठ-श्रेष्ठ, समिध (अग्नि), प्राणो वै रेतः, रुद्र, वसिष्ठ (अतिशय रूप से धर्मकार्यों में बसने वाला), वाणी, स्वर (शब्द) आदि हैं। ये सब अपने-अपने स्थान पर प्राण तत्त्व हैं। **जहाँ जिसका प्रसंग होगा, वहाँ प्राण का अर्थ उसी आधार पर होगा।**

जिज्ञासा ४ - वैदिक सन्ध्या के अन्त में यह मन्त्र है-

ओं नमः शम्भवाय च। मयोभवाय च। नमः शंकराय च। मयस्कराय च। नमः शिवाय च। शिवतराय च।

शिव का अर्थ कल्याणकारी है। नमः शिवाय से काम चल सकता है, शिवतर तक क्यों पहुँचे ? यदि कहें कि शिवतर शिव की तुलना में अधिक कल्याणकारी है, इसीलिए शिवतर शब्द का प्रयोग किया है तो प्रश्न है कि तीसरी अवस्था (=तीसरी डिग्री) अन्तिम है। उसके आगे, जिससे बड़ी डिग्री नहीं है वह शिवतम है। इस मन्त्र में शिवतमाय का प्रयोग क्यों नहीं है ? शिवतराय के आगे शिवतमाय इस मन्त्र में हो तो स्पष्ट होगा कि ईश सबसे बड़ा कल्याणकारी है।

– **इन्द्रजित् देव, चूनियाँ भट्टी, यमुनानगर,**

समाधान- आपकी जिज्ञासा नमस्कार मन्त्र में आये 'शिवाय' व 'शिवतराय' पदों पर है। इनमें भी मुख्य रूप से 'शिवतराय' पर है। शिव का अर्थ कल्याणकारी है, अर्थात् ईश्वर कल्याण करने वाला है। परमेश्वर के अन्दर जितना कल्याण रूपी गुण है, वह सब इस शिव शब्द के अर्थ से ही आ रहा है। ये होते हुए भी मन्त्र में 'शिवतराय' पद पढ़ा है, जिसका अर्थ है अत्यधिक कल्याणकारी। आपकी जिज्ञासा यहीं पर है कि परमेश्वर को कल्याणकारी बताने के लिए 'शिव' शब्द से ही काम चल रहा है, फिर 'शिवतर' तक क्यों पहुँचे? और अधिकता ही दिखानी थी तो शिवतर न कहकर शिवतम कहना चाहिए, क्योंकि शिवतम, शिवतर से अधिक श्रेष्ठ अर्थ में है।

अब इन सबका समाधान करते हैं कि जो मन्त्र में शिवतर शब्द (शिवतराय) पड़ा है, वह युक्ति युक्त व संगत है। इसको समझने के लिए हम 'शिवतर' व 'शिवतम' इन दोनों शब्दों के ऊपर विचार कर लेते हैं कि इनमें क्या प्रत्यय है, ये प्रत्यय किस अर्थ व प्रसंग में होते हैं? इन दोनों शब्दों में क्रमशः तरप् प्रत्यय पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्र **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ**। अ. ५.३.५७ और तमप् प्रत्यय **अतिशायने तमबिष्ठनौ**। अ. ५.३.५५ से हुए हैं। ये दोनों प्रत्यय एक ही अर्थ अर्थात् अतिशय, अत्यन्त प्रकर्ष, अत्यधिक श्रेष्ठ अर्थ में होते हैं। इस प्रकार शिवतर और शिवतम दोनों का एक ही अर्थ बनेगा- अत्यधिक कल्याणकारी। हाँ, इन दोनों प्रत्ययों के अर्थ एक होते हुए भी प्रसंग अलग-अलग हैं। तरप् प्रत्यय जब दो वस्तुओं में तुलना करनी हो, अर्थात् किन्हीं दो वस्तु में कौन-सी एक अधिक प्रकर्ष वाली है, तब होता है। तमप् प्रत्यय दो से अधिक वस्तुओं में तुलना करनी हो तब होता है, अर्थात् बहुत-सी वस्तुओं में से कौन-सी एक वस्तु सबसे अधिक प्रकर्षता वाली है, इसको बताने के लिए

'तमप्' प्रत्यय का प्रयोग होता है।

इस आधार पर आपका समाधान बनता है कि वैदिक सिद्धान्त त्रैतवाद पर टिका है। आत्मा, परमात्मा, प्रकृति ये तीन ही मूल तत्त्व हैं। इन तीनों में आत्मा, दो से अपना प्रयोजन पूरा करता है। अर्थात् आत्मा के सामने परमात्मा व प्रकृति ये दो हैं। इन दोनों में से आत्मा किसको अधिक श्रेष्ठ माने तो अभी ऊपर हमने व्याकरण की दृष्टि से देखा कि दो में तुलना करनी हो तो तरप् प्रत्यय होता है। और मन्त्र में भी तरप् युक्त शिवतर शब्द है।

अज्ञानी आत्मा प्रकृति का सुख लेते हुए इसी को अपना कल्याणकारी समझने लगता है। ऐसी स्थिति में वेद मन्त्र ने संकेत दिया कि प्रकृति से अधिक शिवतर परमेश्वर है, इसलिए मन्त्र में 'नमः शिवतराय' कहा है अथवा ज्ञानी आत्मा, प्रकृति व परमात्मा में जब तुलना करता है, तब परमेश्वर को शिवतर देखता है, इसलिए वह 'नमः शिवतराय' कहता है।

यहाँ यदि प्रकृति से अतिरिक्त अन्यों के साथ (बहुतों के साथ) भी परमात्मा की तुलना हो रही होती तो शिवतमाय हो सकता था, परन्तु **प्रकृति के अतिरिक्त और कोई सुखदायी पदार्थ नहीं है।** आत्मा को सुख चाहिए और सुख देने वाले पदार्थ दो (प्रकृति व परमात्मा) ही हैं।

जिज्ञासा ५– एकाग्र अवस्था की प्राप्ति से ही क्या विवेकख्याति की प्राप्ति हो जायेगी? एकाग्र अवस्था तो खिलाड़ियों में, निशानेबाजों में, कामियों में, क्रोधियों में भी पाई जाती है। यदि सत्वपुरुष अन्यताख्याति एकाग्रता से ही प्राप्त हो जाती है तो 'निरुद्ध और दग्धबीजभाव' अवस्था में क्या प्राप्त होगा?

– रामगोपाल गर्ग

समाधान – एकाग्र अवस्था की प्राप्ति ही विवेकख्याति नहीं है। विवेकख्याति की प्राप्ति में एकाग्र अवस्था साधन का काम करती है। लोक में जिस एकाग्रता का व्यवहार होता है, उसमें और योगदर्शन में वर्णित

एकाग्रता में भेद है। खिलाड़ियों आदि की जो एकाग्रता है, वह योगदर्शन में जो मन की तीसरी अवस्था विक्षिप्त कही है, वह है। विक्षिप्त अवस्था की अच्छी स्थिति में एकाग्रता जैसा भान होता है। यथार्थ में वह विक्षिप्त अवस्था ही है, किन्तु लोक में इसी को एकाग्रता कह देते हैं। इस प्रकार की एकाग्रता से विवेकख्याति की प्राप्ति नहीं होती।

विवेकख्याति मन की चौथी अवस्था एकाग्रता से प्राप्त होती है। इसी से आत्मा को प्रकृति पुरुष का भेद ज्ञान होकर आत्मा लाभ होता है, अर्थात् आत्मा का दर्शन (अपने आपका दर्शन) होता है। इसी को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

आपने कहा- निरुद्ध और दग्धबीजभाव अवस्था में क्या प्राप्त होगा? इसमें हमने देखा कि एकाग्रता से आत्मा की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार मन की पाँचवीं अवस्था निरुद्ध से परमात्मा की प्राप्ति होती है, ईश्वर का साक्षात्कार होता है और दग्धबीजभाव अवस्था होने पर अर्थात् अविद्यादि पाँचों क्लेशों के संस्कार दग्ध होने पर, सर्वथा नष्ट होने पर योगी को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

केवल आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर-साक्षात्कार होने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, अपितु इनके साथ-साथ क्लेशों के दग्ध होने पर मोक्ष प्राप्त होता है।

जिज्ञासा ६ - (क) प्राण चेतन हैं या जड़? अगर चेतन हैं- जैसा आपने कहा, तो फिर केन उपनिषद् का ऋषि ऐसा क्यों कहता है- इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राण की पहुँच उस परमात्मा तक नहीं है, क्योंकि ये सभी जड़ हैं।

(ख) अगर जड़ है तो इसे प्रकृति तत्त्वों में क्यों नहीं गिना गया?

(ग) अगर परमात्मा का नाम ही प्राण है, जैसा आपने कहा तो फिर कहीं भी किसी शास्त्र में ईश्वर को प्राणवान् क्यों नहीं कहा गया? अनेक

जगह आर्ष ग्रन्थों में ईश्वर को अप्राण की संज्ञा दी गई है, केवल आत्मा के साथ जुड़ने से (शरीर अवस्था में) आत्मा को प्राणी शब्द से सम्बोधित किया जाता है, ऐसा क्यों?

(घ) श्री उदयवीर शास्त्री जी की शास्त्र व्याख्या में मैंने कहीं पढ़ा है कि प्रलय काल और मोक्ष अवस्था में आत्मा का सम्बन्ध प्राण से नहीं रहता। ऐसा क्यों? आपने तो कहा है कि प्राण ईश्वर ही है, किन्तु ईश्वर तो सर्वव्यापकता गुण के कारण सभी जगह आत्मा सहित ओत-प्रोत है, तो मोक्ष और प्रलय काल में फिर प्राण स्वरूप ईश्वर क्या आत्मा से अलग हो सकता है?

(ङ) मनुष्य के मरने पर हम सभी कहते हैं कि अमुक व्यक्ति के प्राण निकल गये। वह अब मृतक शरीर है। जहाँ प्राण का आना-जाना बना रहता है, वहाँ प्राण की सर्वव्यापकता कैसे सिद्ध होगी, समष्टि रूप को छोड़कर?

(च) यजुर्वेद के १९वें अध्याय का ६०वाँ मन्त्र प्राण के विषय में कहता है:-

ओ३म् येऽअग्निष्वात्ता येऽअनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति।।

यजु. १९-६०

मैं संस्कृत विद्या का विद्वान् नहीं हूँ। इस मन्त्र की व्याख्या भी परोपकारी पत्रिका में किसी आर्य विद्वान् द्वारा की गई, वह मैंने पढ़ी है, उनकी व्याख्या इस प्रकार है-

जो पितर अर्थात् माता-पिता, गुरु और विद्वान् लोग इत्यादि अग्नि विद्या और सोम विद्या और आनन्द से रहते हैं (तेभ्यः स्वराडसुनीतिम्) अर्थात् उनके हितार्थ स्वराड् जो प्रकाश स्वरूप है वह परमेश्वर, असुनीति अर्थात् प्राण विद्या का प्रकाश कर देता है। हम प्रार्थना करते हैं कि

(यथावशं तन्वं कल्पयाति) हे परमेश्वर! आप उनके शरीर सदा तेजस्वी और रोग रहित रखिये, जिससे हम उनसे उस विद्या (प्राण विद्या) का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

यहाँ इस व्याख्या से प्राण विद्या अन्य तत्त्वज्ञान आदि विद्याओं से अलग अति महत्त्व की बताई गई है, उसको अति विशेष विद्या का स्थान दिया गया है, अतः कृपा करके प्राण के बारे में शास्त्रोक्त रहस्य को बताने का कष्ट करें।

- रतनलाल सैनी, म.नं. ७५५/१८, नजदीक राधा कृष्ण मन्दिर, गली दिल्ली वाली, मौहल्ला सैनियान, हिसार-१२५००१ (हरियाणा)

समाधान- आपकी जिज्ञासा परोपकारी मार्च के द्वितीय अंक के जिज्ञासा समाधान-५९ के प्राण सम्बन्धी समाधान को लेकर है। समाधान पढ़ने से आपके अन्दर अनेक नई शंकाएँ उत्पन्न हुई हैं। आपकी जिज्ञासा का समाधान लिखने से पहले हम यहाँ पाठकों के सुविधार्थ और आपके भ्रम निवारणार्थ जो प्राण विषय में लिखा था, उसको ज्यों-का-त्यों यहाँ लिख रहे हैं।

'श्वास शरीर में प्राणवायु को लेने और छोड़ने का नाम है और शरीर को धारण करने वाली जीवनी शक्ति का नाम प्राण है। दोनों में अन्तर विशेष नहीं है, यदि अन्तर करना चाहें तो एक में वायु का लेना और छोड़ना क्रिया विशेष है, दूसरे में जीवनी शक्ति विशेष है। प्राण शब्द का भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ मिलता है। मुख्य रूप से शरीर को धारण करने वाला, जीवन का मूल शरीरस्थ वायु विशेष का नाम प्राण शब्द से रूढ़ हो गया है। प्राण शब्द के अन्य अनेक अर्थों में, परमात्मा, आत्मा, मन, इन्द्रियाँ, बल, ऊर्जा, शक्ति, सामर्थ्य, प्रिय व्यक्ति विशेष, चन्द्रमा, सोम, वरुण, अर्क (सूर्य), सविता, अमृत, यज्ञ का उद्गाता, सामवेद, भरत

(धारण-पोषण करने वाला), वाचस्पति, रस, दीक्षा, पशु, मनुष्य, ज्येष्ठ-श्रेष्ठ, समिध (अग्नि), प्राणो वै रेतः, रुद्र, वसिष्ठ (अतिशय रूप से धर्म कार्यों में बसने वाला), वाणी, स्वर (शब्द) आदि हैं। ये सब अपने-अपने स्थान पर प्राण तत्त्व हैं। जहाँ जिसका प्रसंग होगा वहाँ प्राण का अर्थ उसी आधार पर होगा।' परोपकारी मार्च द्वितीय-२०१४।

(क) निश्चित रूप से प्राण जड़ है चेतन नहीं। मैंने प्राण को कहीं चेतन नहीं लिखा है। आपने मेरे कौन-से वाक्यों से निकाला कि प्राण चेतन है? हाँ, मैंने शरीर को धारण करने हारी जीवनी (जीवन प्रदान करने वाली) शक्ति को प्राण कहा है, इससे आप समझ रहे हो कि मैंने प्राण को चेतन लिखा है, सो यह आपका सोचना उचित नहीं है। इस बात से भी प्राण चेतन सिद्ध नहीं हो रहा। **जैसे भूखे व्यक्ति के लिए भोजन जीवन देने वाला है, इस अवस्था में भोजन को लोग जीवन कह देते हैं,** जीवनी शक्ति कह देते हैं, ऐसा कहने से भोजन चेतन नहीं हो जाता, ऐसे ही प्राण के विषय में समझें। मैंने मुख्यरूप से शरीरस्थ वायु विशेष का नाम प्राण लिखा था, वायु चेतन तत्त्व नहीं है। इस बात से भी आप मेरे अभिप्राय को समझ सकते थे।

मैं प्राण को जड़ मानता हूँ, इसलिए केनोपनिषद् का प्रमाण देते हुए मुझसे पूछना कि केनोपनिषद् का ऋषि ऐसा क्यों कहता है..... यह प्रश्न उससे पूछा जा सकता है, जो प्राण को चेतन मानता हो। वैसे भी प्रसंग प्राण का था, आपने इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि को और जोड़ दिया। इस बात को मैं भी स्वीकार करता हूँ कि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राण की पहुँच उस परमात्मा तक नहीं है, क्योंकि ये जड़ हैं। **ये सब उस परमात्मा तक पहुँचने में आत्मा के साधन अवश्य बनते हैं।** आप इस बात को अपनी कहकर लिखते, न कि केनोपनिषद् की, तो ठीक था, क्योंकि वहाँ केनोपनिषद् में बुद्धि और प्राण पढ़ा ही नहीं गया है। वहाँ तो-

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे।

केन. १.३

(ख) प्राण जड़ है, शरीर में वायु विशेष प्राण है। वायु को प्रकृति तत्त्वों में गिना गया है। स्पर्श तन्मात्रा से वायु बना है, स्पर्श तन्मात्रा अहंकार से, अहंकार महतत्त्व से और महतत्त्व मूल प्रकृति से बना है। इसलिए यह कहना कि इसे प्रकृति तत्त्वों में क्यों नहीं गिना गया, कम जानकारी का द्योतक है।

(ग) मैंने नहीं कहा कि परमात्मा का नाम ही प्राण है। प्राण के अनेक अर्थों में एक अर्थ परमात्मा भी है ऐसा तो कहा है, उसको मानता भी हूँ। 'ही' शब्द लगाने से वक्ता अथवा लेखक का तात्पर्य बदल जाता है, जो कि मैंने इस प्राण विषयक लेख में कहीं भी 'ही' का प्रयोग नहीं किया, इसको आप ऊपर देख सकते हैं। फिर ये कहना कि परमात्मा का नाम ही प्राण है, ऐसा मैं (सोमदेव) मानता हूँ, इस पर विचार करें। मैंने मुख्यरूप से प्राण का अर्थ जो कि रूढ़ हो गया है, शरीर को धारण करने वाला, जीवन का मूल शरीरस्थ वायु विशेष किया है, जिस अर्थ के ऊपर आपका ध्यान ही नहीं गया। इसके अतिरिक्त जो प्राण के अर्थ विद्वानों ने किए व शास्त्रों में मिलते हैं, वे लिखे हैं।

परमेश्वर की एक संज्ञा प्राण है, इसके लिए गायत्री मन्त्र में आये भूः का अर्थ देखें। 'भूरिति वै प्राणः' जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है उस प्राण का वाचक होके 'भूः' परमेश्वर का नाम है- सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास।। यहाँ महर्षि ने स्पष्ट प्राण को ईश्वर का वाचक कहा है। जैसे हमारे शरीर का आधार यह भौतिक (सूक्ष्म भूत से बना हुआ) प्राण है, वैसे समस्त जगत् का आधार परमात्मा रूपी

प्राण है। इस अर्थ में परमात्मा को प्राण कहा गया है, कहा जा सकता है।

अब रही ईश्वर को प्राणवान् न कहने और अप्राण कहने की बात तो **ईश्वर कभी शरीर धारण नहीं करता, ईश्वर को इस जड़ प्राण की आवश्यकता नहीं है, इसलिए उसको प्राणवान् नहीं कहा** व अप्राण की संज्ञा दे दी, ये अर्थ प्रसंग से निकलते हैं, जो प्रसंग को ठीक से नहीं समझता, वहाँ भ्रम होता रहता है।

जब हम परमेश्वर को सबका स्वामी देखेंगे, मानेंगे तो उस सबमें प्राण भी है, परमेश्वर उस प्राण का स्वामी भी है। **जैसे बल के स्वामी को बलवान् कहते हैं, वैसे प्राण के स्वामी परमात्मा को प्राणवान् कह सकते हैं,** इसमें कोई सिद्धान्त की हानि नहीं है।

वैसे आप शास्त्रों की बात करते हैं, किन्तु शास्त्र का प्रमाण नहीं देते। यदि प्रमाण साथ में दे देते तो प्रसंग को देखकर बात अधिक स्पष्ट हो जाती।

प्राण आत्मा के साथ शरीरावस्था में जुड़ने से आत्मा को प्राणी कहा जाता है, वह इसलिए कि शरीर धारण अवस्था में ही आत्मा को प्राणों की आवश्यकता होती जो कि परमेश्वर की व्यवस्था से इसको प्राप्त होते हैं। प्राणों से युक्त होने से इसको प्राणी कह देते हैं, **शरीरावस्था से भिन्न प्राणों की आवश्यकता नहीं होती तो उस अवस्था में इसको प्राणी भी नहीं कहते।**

(घ) पं. उदयवीर शास्त्री जी ने जो लिखा कि प्रलय काल व मोक्षावस्था में आत्मा का सम्बन्ध प्राण से नहीं रहता, सो ठीक लिखा है। यहाँ समझने की बात यह है कि इन दोनों अवस्थाओं में भौतिक प्राण का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ नहीं रहता। ऐसा इसलिए कि प्रलयावस्था और मोक्ष में आत्मा शरीर रहित रहता है, जब शरीर नहीं है तो प्राण से सम्बन्ध भी नहीं रहता। हाँ, प्राण स्वरूप ईश्वर का सम्बन्ध तो सदा रहता है।

आपकी जिज्ञासा पढ़कर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आपने मेरे प्राण

सम्बन्धी स्पष्टीकरण को समझपूर्वक ठीक से नहीं पढ़ा, यदि पढ़ा होता तो बार-बार यह न लिखते कि 'आपने तो कहा है कि प्राण तो ईश्वर ही है।' जबकि मैंने इस भाषा का प्रयोग ही नहीं किया। वहाँ मैंने प्राण के अनेक अर्थों में एक अर्थ ईश्वर परक किया है जो कि आर्ष सम्मत है। प्राण स्वरूप ईश्वर सर्वव्यापक गुण वाला है, वह आत्मा सहित सबमें ओत-प्रोत है और वह प्रलय व मोक्ष में भी आत्मा सहित सब जगह ओत-प्रोत रहता है। कोई भी पदार्थ उससे कभी भी अलग नहीं रह सकता।

प्राण का एक अर्थ जिस प्राणवायु से हमारा शरीर चलता है, वह और एक अर्थ ईश्वर। इन दोनों को जब आप पृथक्-पृथक् समझपूर्वक देखेंगे तो सब ठीक से समझ में आयेगा, अन्यथा नहीं।

(ङ) इस बिन्दु में भी आपकी वही समस्या है कि आप भौतिक जड़ प्राण व प्राण स्वरूप परमात्मा को पृथक्-पृथक् नहीं समझ पा रहे। यदि समझे होते तो ऐसी शंका न करते। इन दोनों को ठीक से समझें और शंका का निवारण कर लेवें।

(च) जो मन्त्र आपने उद्धृत किया है, उसमें बहुत बड़ी प्राण विद्या छिपी हुई हो- ऐसा ऋषि भाष्य से तो प्रतीत नहीं होता। इस मन्त्र का देवता (विषय) भी प्राण नहीं है। इसका देवता 'पितर' है। पितर सम्बन्धी इस मन्त्र में प्रार्थना है। यहाँ ऋषि भाष्य हम लिख रहे हैं-

(ये) जो (अग्निष्वात्ताः) अच्छे प्रकार अग्निविद्या को ग्रहण करने तथा (ये) जो (अनग्निष्वात्ताः) अग्नि से भिन्न अन्य पदार्थ विद्याओं को जानने हारे वा ज्ञानी पितृ लोग (दिवः) वा विज्ञानादि प्रकाश के (मध्ये) बीच (स्वधया) अपने पदार्थ के धारण रूप क्रिया से (मादयन्ते) आनन्द को प्राप्त होते हैं (तेभ्यः) उन पितरों के लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान् परमात्मा (एताम्) इस (असुनीतिम्) प्राणों को प्राप्त होने वाले (तन्वम्) शरीर को (यथावशम्) कामना के अनुकूल (कल्पयाति) समर्थ करे।

भावार्थ- मनुष्यों को परमेश्वर से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए कि हे परमेश्वर ! जो अग्नि आदि की पदार्थ विद्या को यथार्थ जान के प्रवृत्त करते और जो ज्ञान में तत्पर विद्वान् अपने ही पदार्थ के भोग से सन्तुष्ट रहते हैं, उनके शरीर को दीर्घायु कीजिये।

जिज्ञासा ७ - सभी आर्य और हिन्दू समुदाय सन्ध्या करता है। सुबह-शाम वेद मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। एक शंका है। सभी सात्विक भोजन नहीं करते हैं, न खाने-पीने वाली चीजें भी खा-पी लेते हैं। हम तो वेद मन्त्रों को पवित्र समझते हैं। गलत उच्चारण को हत्या समझते हैं, तो क्या आमिषभोजी को सन्ध्या करना अच्छा है ? उसे वही लाभ मिलेगा जो एक सात्विक आचरण करता है ?

- सोनालाल नेमधारी आर्यभूषण, कारोलिन, बेलडाट, मोरिशस

समाधान - प्रथम तो आपने लिखा कि 'सभी आर्य और हिन्दू समुदाय सन्ध्या करता है।' इस पर हमारा कथन है कि ऐसा नहीं है कि सभी सन्ध्या करते हैं, हाँ आपका प्रश्न उनको लेकर है जो सन्ध्या करते हैं, उनमें भी आमिषभोजी होते हुए सन्ध्या करते हैं।

मन्त्र के अशुद्ध उच्चारण करने पर दोष लगता है, किन्तु हत्या जैसा दोष नहीं लगता। एक तो सात्विक भोजन करते हुए मन्त्र का अशुद्ध उच्चारण करना, दूसरा आमिषभोजी होते हुए मन्त्र का शुद्ध उच्चारण करना- ये दोनों अलग-अलग बाते हैं। प्रथम में अशुद्ध उच्चारण का दोष है, दूसरे में उच्चारण तो शुद्ध है, किन्तु आमिषभोजन का दोष है। दोषी तो दोनों हैं। आप अशुद्ध उच्चारण को हत्या जैसा दोष मान रहे हैं, अन्य कोई मांस भक्षण को हत्या दोष मानता है। बड़ा दोषी कौन है- सात्विक आहार-विहार से युक्त मन्त्रोच्चारण अशुद्ध करने वाला वा मांसादि भक्षण से युक्त शुद्ध मन्त्रोच्चारण करने वाला ? इसका निर्णय पाठक स्वयं करें।

अब आपके मूल प्रश्न पर आते हैं कि क्या आमिषभोजी का सन्ध्या करना अच्छा है? इस पर हमारा उत्तर है कि न करने वाले से तो अच्छा है। हाँ, उसको इस सन्ध्या का वह फल तो नहीं मिलेगा जो फल सात्विक आहार-विहार करने वाले को मिलता है। सात्विक आहार-विहार करने वाला सन्ध्या से अधिक आनन्द, शान्ति एवं ज्ञान को प्राप्त कर उत्तरोत्तर उन्नति करेगा, किन्तु आमिषभोजी को वह उपलब्धि नहीं होगी।

एक आमिषभोजी सन्ध्या नहीं करता और एक सन्ध्या करता है- इन दोनों में निश्चित रूप से सन्ध्या करने वाला अच्छा है। इसके सुधार की अधिक सम्भावना है। हो सकता है, वह सन्ध्या के महत्त्व को देखता हुआ कालान्तर में मांसादि खाना छोड़ देवे, इसलिए आमिषभोजी सन्ध्या करने वाले को पतित दृष्टि से न देखें।

जिज्ञासा ८- अथर्ववेद में निम्नलिखित दो मन्त्र इस प्रकार से हैं-

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः।।

- अथर्ववेद १०/२/३१-३२

पहले मन्त्र में मनुष्य के शरीर की संरचना का वर्णन किया गया है। संक्षेप में, यह स्पष्ट रूप में कहा गया है कि हमारे शरीर में आठ चक्र हैं। मैं अपने अल्प ज्ञान के आधार पर यही समझता हूँ कि वेद-मन्त्र का संकेत मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र नामक आठ चक्रों पर है। इस शरीर में एक आनन्दमय कोश है जो कि आत्मा का निवास-स्थान है। इस आत्मा में जो परमात्मा विद्यमान है, ब्रह्म-ज्ञानी उसे ही जानने का प्रयास करते हैं। जहाँ तक मैंने वैदिक विद्वानों के मुखारविन्द से सुना है, ब्रह्मरन्ध्र आनन्दमय कोश में ही विद्यमान है। उनका यह भी कथन है कि मस्तिष्क को भी हृदय कहा जाता

है। मस्तिष्क की स्थिति आनन्दमय कोश में है।

जब स्तम्भवृत्ति द्वारा, श्वासों की गति को कुछ क्षणों के लिए रोक दिया जाता है तो मन के द्वारा ध्यान लगाने में सुविधा होती है। जब श्वासों को ब्रह्मरन्ध्र की स्थिति में रोका जाए तो मन शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है क्योंकि दोनों ही एक कोश में विद्यमान है। स्वभाविक रूप से ब्रह्मरन्ध्र (सहस्रार) में धारणा करते हुए आत्मा का अन्तःकरण के द्वारा चिन्तन करना अधिक सरल हो जाता है। वक्षस्थल के समीप जिसे व्यवहारिक भाषा में हृदय कहा जाता है, ध्यान बिखरने लगता है, क्योंकि ध्यान लगाने वाला तो इस कोश में है नहीं।

ऊपर लिखित तथ्यों को ध्यान में रखते हुए मेरी निम्नलिखित जिज्ञासायें हैं और प्रार्थना है कि उनका यथोचित समाधान करते हुए कृतार्थ करें-

(क) अथर्ववेद में किन आठ चक्रों का वर्णन किया गया है?

(ख) इन आठ चक्रों का क्या महत्त्व है, विशेषतया ध्यान की पद्धति में?

(ग) क्या ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करना युक्ति-युक्त नहीं? क्या यह वर्जित है?

- रमेश चन्द्र पहूजा, प्रधान, आर्यसमाज मॉडल टाऊन, यमुनानगर

समाधान- आज अध्यात्म के नाम पर अनेक भ्रान्तियाँ चल रही हैं। यथार्थ में अध्यात्म क्या है? इसको प्रायः लोग समझते ही नहीं। बिना समझे अध्यात्म के नाम पर भ्रान्ति में जीवन जी रहे होते हैं। आत्मा-परमात्मा के विषय को अधिकृत करके विचार करना उसके अनुसार जीना अध्यात्म है। ठीक-ठीक वैदिक सिद्धान्तों को समझना, उनको आत्मसात करना, उनके अनुसार अपने को चलाना अध्यात्म है। यह अध्यात्म तनिक कठिन है। इस कठिनता भरे अध्यात्म को अपनाने के लिए साहस और पुरुषार्थ की

आवश्यकता है। प्रायः आज का व्यक्ति पुरुषार्थ से बचना चाहता है, इसलिए उसको सरल मार्ग चाहिए। यम-नियम आदि के बिना ही कुण्डलिनी जाग्रत कर मोक्ष चाहता है। इन कुण्डलिनी आदि के साथ चक्रों के चक्र में भी घूमने लगता है।

महर्षि दयानन्द ने हमें विशुद्ध अध्यात्म का परिचय ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका उपासना विषय, मुक्ति विषय में व सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ७ व ९ में तथा अध्यात्म से ओत-प्रोत ग्रन्थ आर्य्याभिविनय में करवा दिया है। महर्षि के इस अध्यात्म में कुण्डलिनी और चक्रों की कोई चर्चा नहीं है। महर्षि दयानन्द ने हठयोग प्रदीपिका पुस्तक को अनार्ष ग्रन्थ माना है और ये कुण्डलिनी आदि उसी अनार्ष ग्रन्थ की देन है। सांख्य आदि शास्त्र में इनका वर्णन नहीं है। ऋषियों के ग्रन्थों में तो यमनियमादि के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञान से मुक्ति कही है, न कि कुण्डलिनी जागरण से।

अथर्ववेद के जो मन्त्र आपने उद्धृत किये हैं, उन मन्त्रों के आर्ष भाष्य उपलब्ध नहीं हैं, अन्य विद्वानों के भाष्य उपलब्ध हैं। जो भाष्य उपलब्ध हैं, उन विद्वानों का मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् प्रचलित चक्रों की बात करते हैं, कुछ नहीं। जो प्रचलित चक्रों को मानते हैं, वे इन्हीं चक्रों परक अर्थ करते हैं और जो नहीं मानते, वे चक्र का अर्थ आवर्तन घेरा आदि लेते हुए, शरीर में स्थित ओज सहित अष्ट धातुओं का जो वर्णन है, उसको लेते हैं अथवा अष्टाङ्ग योग को लेते हैं। ये विद्वानों की अपनी मान्यता है। यथार्थ में मन्त्र में आये अष्ट चक्र में कौन-से आठ चक्र कहे हैं, यह निश्चित नहीं हैं। हमें अधिक संगत अष्ट धातु परक अर्थ लगता है, फिर भी यह अन्तिम नहीं है।

महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन काल में तन्त्रादि ग्रन्थों को भी पढ़ा था। उन तन्त्र ग्रन्थों में शरीर रचना विशेष की बातें लिखी थी। उन पुस्तकों में कई पुस्तकों का विषय नाड़ीचक्र था। महर्षि ने शव परीक्षण भी किया था

जो उन नाड़ीचक्र आदि विषय वाली पुस्तकों के अनुसार खरा नहीं उतरा, अर्थात् नाड़ीचक्र आदि वहाँ कुछ नहीं मिला। उससे ऋषि का और अधिक दृढ़ निश्चय आर्ष ग्रन्थों पर हुआ। वर्तमान के चिकित्सकों को भी ये चक्र कुण्डलिनी नहीं मिले हैं। जब ये चक्र हैं ही नहीं तो इनकी ध्यान में उपयोगिता भी कैसी? ध्यान में उपयोगी अपना शुद्ध व्यवहार, सिद्धान्त की निश्चितता, वैराग्य, यम-नियमादि योग के अंग हैं। इनको कर व्यक्ति अच्छी प्रकार ध्यान कर सकता है, अन्यथा तो शरीर के चक्रों में ही लगा रहेगा।

हाँ, मन्त्र में आये अष्टचक्र से यदि अष्टधातु शरीर में स्थित रसादि सात और आठवाँ ओज लिया जाता है तो निश्चित रूप से इनका महत्त्व है।

आपने पूछा, क्या ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करना युक्ति युक्त नहीं? क्या यह वर्जित है? इस पर हमारा कथन कि महर्षि पतञ्जलि जी ने योगदर्शन में 'धारणा' के लिए कहा है, धारणा की परिभाषा करते हुए महर्षि ने सूत्र बनाया **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'** अर्थात् चित्त का शरीर के एक देश (स्थान) विशेष पर बाँधना (स्थिर करना) धारणा है। इस सूत्र का भाष्य करते हुए महर्षि व्यास ने कुछ स्थानों के नाम गिनाये हैं-

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि, ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु....धारणा।

अर्थात् नाभि, हृदय, मस्तिष्क, नासिका और जिह्वा के अग्रभाग आदि देश में मन को स्थिर करना। यहाँ मुख्यरूप से मन को एक स्थान पर रोकने की बात कही है, वह स्थान कोई भी हो सकता है, ब्रह्मरन्ध्र भी। ऋषि के कथन से तो हमें यह प्रतीत नहीं हो रहा कि ध्यान करने के लिए ब्रह्मरन्ध्र विशेष स्थान है और अन्य स्थान सामान्य है। हाँ, यह अवश्य प्रतीत हो रहा है कि सभी स्थान अपना महत्त्व रखते हैं। उनमें चाहे नासिकाग्र, जिह्वाग्र हो अथवा ब्रह्मरन्ध्र। यह वर्जित भी नहीं है कि ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान नहीं करना

चाहिए, ब्रह्मरन्ध्र में मन टिका कर ध्यान किया जा सकता है।

आपने विद्वानों से सुना है कि ब्रह्मरन्ध्र आनन्दमय कोश में रहता है। मस्तिष्क को हृदय कहा जाता है। मस्तिष्क की स्थिति आनन्दमय कोश में है। आपने जो विद्वानों से सुना है कि हृदय मस्तिष्क है अथवा मस्तिष्क में है- यह ऋषि के प्रतिकूल कथन है। हमने कई बार जिज्ञासा समाधान में ऋषि कथनानुसार हृदय स्थान का वर्णन किया है। अब फिर कर रहे हैं 'जिस समय..... परमेश्वर करके उसमें प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें कि कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप स्थान है.......।' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।। इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी मस्तिष्क को हृदय कहना, ऋषि मान्यता को न मानना है। इसी हृदय प्रदेश में ध्यान करने वाला आत्मा रहता है। यहाँ पर ठीक-ठीक किया गया ध्यान बिखरेगा नहीं, अपितु अधिक-अधिक ध्यान लगेगा।

इसलिए ध्यान ,उपासना को अधिक बढ़ाने के लिए महर्षि दयानन्द ने जो उपासना पद्धति विशेष बताई है, उसके अनुसार चले-चलावें, इसी से अधिक लाभ होगा। और जो ऋषि मान्यता से विपरीत अन्य विद्वानों के विचार हैं, उसको छोड़ने में ही लाभ है। **ऋषि मान्यता के विपरीत चाहे कितने ही बड़े विद्वान् की बात क्यों न हो, वह हमारे लिए मान्य नहीं है।**

जिज्ञासा ९ - (क) सन्ध्या के अन्तर्गत मार्जन मन्त्रों में प्रथम कहा है- **ओं भूः पुनातु शिरसि** अर्थात् हे ईश ! आप प्राणों के भी प्राण हैं। मेरा शिर पवित्र करें। इसमें शंका है कि प्राणों का सम्बन्ध नासिका से है। भूः का सम्बन्ध नासिकाओं से उचित प्रतीत होता है- **'ओं भूः पुनातु प्राणयोः'**

अथवा '**ओं भूः पुनातु नासिक्योः।**' कृपया '**ओं भूः पुनातु शिरसि**' में से भूः व शिरसि की संगति स्पष्ट कीजिएगा।

(ख) इसी प्रकार मार्जन मन्त्रों के अन्तर्गत तृतीय मन्त्र पर शंका है- **ओं स्वः पुनातु कण्ठे।** अर्थात् हे सुखस्वरूप प्रभो! अपने उपासकों को सुख प्रदान करने हारे हो। मेरे कण्ठ को सुख प्रदान करो ....। यदि यह मन्त्र ऐसे होता तो अच्छा रहता- **ओं स्वः पुनातु शिरसि।** शिर में शुद्धि हो, विचारों में शुद्धि हो तो सारी शुद्धि स्वतः होगी। मनुष्य विचारों को अपवित्र बनाता है तो शेष सब अशुद्ध व अपवित्र बनता है। शिर पवित्र बने बिना सुख नहीं आएगा।

उपरोक्त दोनों वेद मन्त्रांश नहीं जान पड़ते, अतः इनमें परिवर्तन करना वेद में परिवर्तन नहीं माना जाएगा, परन्तु ऐसा तब प्रश्न उत्पन्न होगा, जब मेरा विचार संगत माना जाएगा। समाधान दीजिएगा।

- इन्द्रजित् देव, चूना भट्ठिया, सिटी सैन्टर के निकट,
यमुनानगर-१३५००१ (उ.प्र.)

समाधान (क) सन्ध्या के मार्जन मन्त्रों में आये '**ओं भूः पुनातु शिरसि**' पर आपकी शंका है। हे प्रभु- आप प्राणों के भी प्राण हैं मेरे शिर को पवित्र कर दें। इस विषय में हम आपको बता दें कि सम्पूर्ण शरीर में सबसे अधिक प्राणवायु की आवश्यकता मस्तिष्क को होती है। इस तथ्य को आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है। नासिका प्राणवायु लेने का मार्ग है, नासिका मार्ग से लिया गया प्राण सम्पूर्ण शरीर को संचालित करता है, मुख्य रूप से मस्तिष्क को। जब मस्तिष्क को पर्याप्त प्राणवायु नहीं मिलता, तब मस्तिष्क काम करना कम कर देता है। उस समय हमें ऊँघ आने लगती है, तमोगुण की वृद्धि होने लगती है और हमें नींद आ जाती है। इसलिए प्राण का अधिक सम्बन्ध मस्तिष्क से होने के कारण 'भूः पुनातु शिरसि' कहा है।

दूसरा- सभी ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियों का मूल उद्गम शिर (मस्तिष्क) में है और इन्द्रियों को भी प्राण कह देते हैं, जैसा कि वैदिक साहित्य में कहा है- "**प्राणा इन्द्रियाणि**" (काठ.सं. ९.१/ताण्ड्य ब्रा. २२.४.३) इसी प्रमाण से महर्षि दयानन्द के सांख्यदर्शन से तथाकथित विरोधाभास का समन्वय भी हो जाता है, क्योंकि सांख्य दर्शन में सूक्ष्म शरीर के घटकों में ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ गिनाए हैं, जबकि महर्षि दयानन्द ने ५ प्राण, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ कहा है। किन्तु प्राण को इन्द्रिय कहने पर यह तथाकथित विरोध समाप्त हो जाता है। पवित्रता के लिए यहाँ प्रार्थना है। यहाँ शिरः पर प्राणरूपी ज्ञान व कर्मेन्द्रियों के मूल उद्गम स्थान मस्तिष्क भाग को संकेतित करता है और '**सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि**' वाला 'शिरः' पद मस्तिष्क स्थानीय मेधा=बुद्धि के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(ख) इसी प्रकार '**स्वः पुनातु कण्ठे**' भी उचित ही है। आप इसको शिर से जोड़ कर देखना चाहते हैं और शिर की पवित्रता से सुख होगा, यह भी देख रहे हैं। यह ठीक है, किन्तु शिर की पवित्रता के लिए महर्षि ने पृथक् से '**सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि**' मन्त्र लिखा है। जो तर्क आप 'स्वः' के साथ शिर को जोड़ कर दे रहे हैं, वही तर्क 'सत्यं' को जोड़ कर भी दिया जा सकता है। इसलिए महर्षि ने जो क्रम रखा है, वही अधिक संगत है। 'सत्यम्' सत्यस्वरूप परमेश्वर हमारे शिर को पवित्र करें, अर्थात् हमारे विचारों में सत्यता हो और यही सत्यता ही पवित्रता है। जब हमारे विचारों में सत्यता=पवित्रता होगी तो हम अपने कण्ठ से सुखकारी वचन बोलेंगे, जिससे हमें व अन्यों को सुख मिलेगा, इसलिए ऋषिवर ने 'स्वः' को कण्ठ के साथ जोड़ा है और 'सत्यम्' को शिर के साथ। स्वयं एवं दूसरों को सुख व दुःख पहुँचाने में कण्ठ का विशेष महत्त्व है। विचारों की पवित्रता सत्य से है और कण्ठ की पवित्रता सुखकारक, मधुर वचनों से है।

इसलिए ये मन्त्र भले ही वेद के नहीं है, ऋषि वचन हैं, फिर भी इनको परिवर्तित करने का अधिकार हम अल्पबुद्धि वालों का नहीं है और जब ये युक्तिसंगत हैं ही तो बदलने की बात भी व्यर्थ है।

जिज्ञासा १० (क) - सन्ध्या यानी ब्रह्मयज्ञ ही है, क्यों?

(ख)- सन्ध्या के लिये किसी के कमर में दर्द रहता हो, तो सोते-सोते यानी पलंग पर लेटे-लेटे कर ले तो क्या ठीक नहीं है? हमारे मुमुक्षुमुनि जिन्होंने दर्शन विषयक लेख भेजा था, कहते हैं कि इस तरह की गई सन्ध्या को प्रभु स्वीकार नहीं करेंगे, क्या ठीक है?

- हनुमान आर्य, मु.पो. सिवानी मण्डी, जि. भिवानी, हरि.

समाधान (क) - हाँ, सन्ध्या ब्रह्मयज्ञ है। ब्रह्मयज्ञ के दो भाग हैं- एक सन्ध्योपासना की रीति से परमेश्वर का यथोचित् ध्यान करना और दूसरा सत्य शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना **(अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः)**। महर्षि दयानन्द ने तृतीय समुल्लास में लिखा, 'सन्ध्योपासना, जिसे ब्रह्म यज्ञ भी कहते हैं।' "ब्रह्मयज्ञ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, योगाभ्यास।" सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४

महर्षि के इन वचनों से सिद्ध है कि 'सन्ध्या' ब्रह्मयज्ञ है।

(ख) सन्ध्या करने के लिए उचित आसन लगाकर बैठें तो यह उत्तम स्थिति होगी, क्योंकि वेदान्त दर्शन में कहा है- "**आसीनः सम्भवात्**" उपासना बैठकर करनी चाहिए....। इस सूत्र के भाष्य में पं. उदयवीर शास्त्री लिखते हैं, "उपासना या ध्यान उस स्थिति का नाम है, जब चित्त इधर-उधर न डोले, उसमें एक विषय की वृत्ति का प्रवाह निरन्तर बहता रहे। ऐसी स्थिति चलते-फिरते या दौड़ते-भागते सम्भव नहीं। चलना-दौड़ना आदि चित्तवृत्ति को विक्षिप्त करते रहते हैं। खड़े रहना भी उपासना के लिए उपयोगी नहीं, क्योंकि इसमें शरीर धारण की ओर मन की वृत्ति लगी रहती है। लेटकर उपासना करने से अकस्मात् निद्रा से अभिभूत हो

जाने का भय बना रहता है, निद्रा दबा ले तो उपासना धरी रह जाती है, इसलिए बैठकर उपयुक्त आसन लगाकर उपासना करना सम्भव होता है.......।''

गीता के अध्याय ६ के ११-१४ श्लोकों में भी बैठकर उपासना करने का कथन आया है। हाँ, यह अवश्य है कि उपासना किसी भी आसन में, अर्थात् जिसमें स्थिरतापूर्वक और सुखपूर्वक शरीर को बिठाकर रखा जाये, की जा सकती है। इसमें किसी एक ही आसन का होना आवश्यक हो, ऐसा नियम नहीं है। इस विषय में महर्षि कपिल ने कहा है-

'स्थिरसुखमासनमिति न नियमः।'

इसलिए उपासना बैठकर करना अधिक उचित है। यदि शरीर किसी कारण से अस्वस्थ है तो वह बैठना कुर्सी आदि पर भी हो सकता है। वहाँ भी हम सावधानी पूर्वक बैठें कि जिससे सन्ध्योपासना ठीक से कर सकें।

हाँ, यदि व्यक्ति लेटकर अपना मन सन्ध्या में लगा लेता है, नींद नहीं आने देता है तो सन्ध्या लेटकर की जा सकती है, किन्तु यह काम है बड़ा कठिन। वैसे भी लेटकर सन्ध्या करना अच्छी स्थिति नहीं मानी जाती।

जिज्ञासा ११- महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय प्रकरण में लिखा है- ''दोनों स्तनों के बीच में उदर के ऊपर जो गर्त है.... वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है।''

आचार्य उदयवीर शास्त्री अपने 'ब्रह्मसूत्र' भाष्य में वह स्थान दहराकाश मस्तिष्क मूर्धा में बताते हैं।

महात्मा नारायण स्वामी भी 'उपनिषद् रहस्य' में वह स्थान मस्तिष्क में ही बताते हैं।

ऐसे में किस वक्तव्य को प्रामाणिक मानकर उपासना की जाये? कृपया, शंका समाधान करने का कष्ट करें।

– महावीर सिंह, ३२, अर्जुन नगर, बलवन्त नगर के पीछे, ग्वालियर–४७४००२ (म.प्र.)

समाधान– आप उपासना करने के लिए हृदय स्थान के विषय में जानना चाहते हैं। इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। फिर भी जब कभी ऐसा संदेह हो कि इनमें कौन ठीक है तो उनमें अधिक विद्वान्, तपस्वी, वीतराग, परोपकारी हो उसी को मानना चाहिए। इसमें जो महर्षि दयानन्द की मान्यता है, उसी को हम भी मानते हैं। महर्षि ने स्पष्ट शब्दों में अपनी मान्यता को ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उपासना प्रकरण में कहा है, वही उचित और युक्ति संगत प्रतीत होता है। आपने वह प्रकरण पढ़ा हुआ है, फिर भी अन्य पाठकों की दृष्टि से लिखते हैं, "जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें कि कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर–भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।" इसमें महर्षि का स्पष्ट संकेत है। महर्षि की मान्यता है कि छाती के बीच हृदय स्थान है। इससे रक्त को पम्प करने वाला दिल (हार्ट) भी ग्रहित नहीं हो सकता, क्योंकि उसका स्थान छाती के बीच न होकर बाईं ओर है। युक्ति से भी यही स्थान हृदय प्रतीत हो रहा है। जब कोई अपने को हाथ से संकेत करते हुए 'मैं' कहता है, तब कोई भी माथे (मस्तिष्क) पर हाथ वा अंगुली लगाते नहीं दिखाता, हाँ छाती पर हाथ वा अंगुली लगा संकेत अवश्य करता है। जब कभी हर्ष वा शोक की अनुभूति होती है, तब भी उसी स्थान पर अनुभूति प्रतीत होती है, क्योंकि

यही हृदय स्थान जीवात्मा का निवास स्थान प्रतीत होता है। इसलिए ध्यान उपासना के लिए यही हृदय स्थान ठीक है, इसी को मानकर उपासना करनी चाहिए।

योगविद्या के बिना कोई भी मनुष्य पूर्ण विद्यावान् नहीं हो सकता और न पूर्णविद्या के बिना अपने स्वरूप और परमात्मा का ज्ञान कभी होता है।

– महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ७.२८

योगविद्या में सम्पन्न शुद्धचित्त युक्त योगियों को योग्य है कि जिज्ञासुओं के लिये नित्य योग और विद्यादान देकर उन्हें शारीरिक और आत्मबल से युक्त किया करें।

– महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ७.१४

मोक्ष

जिज्ञासा १ – जीव हमेशा दो दशाओं में ही रहता है– या तो प्रकृति के बन्धन में अथवा परमात्मा के सान्निध्य (मोक्ष) में। योगदर्शन में उल्लेख है कि "**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगोहेयहेतुः**" अर्थात्– चेतन आत्मा से अचेतन प्रकृति का संयोग ही दुःखों का कारण है। प्रकृति के सम्पर्क में आने पर ही जीव को अनेक दुःखों का सामना करना पड़ता है और जब विवेक द्वारा जीव की प्रकृति से पूर्णरूपेण अनासक्ति हो जाती है तथा विषय भोगों की कोई कामना या वासना शेष नहीं रहती, तब प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर जीव की स्थिति आनन्द स्वरूप ब्रह्म में हो जाती है। इसी को मोक्ष कहा जाता है।

परन्तु छान्दोग्योपनिषद् (७/२५/२) में कहा गया है कि– "**तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**" अर्थात् मुक्तात्मा सभी लोकों में अपनी सभी कामनाओं को पूर्ण करता हुआ विचरता है।

ऋग्वेद (९/११३/९) में भी कहा गया है– "**यत्रानुकामं चरणं.....तत्र माममृतं कृधि**" अर्थात्– हे प्रभो जहाँ मुक्तात्मा कामानुकूल विचरण करते हैं, वहाँ मुझे भी मुक्त कर दे।

यह भी कहा जाता है कि मुक्ति में शरीर रहित आत्मा अपने विशुद्ध रूप में होता है, तब उसे केवल परमात्मा के आनन्द की ही अनुभूति होती है।

न्याय दर्शन के अनुसार– मिथ्याज्ञान से उत्पन्न जब जीव की पाँचों विषयों में आसक्ति तथा वासना दूर हो जाती है, तब वासना के नाश से फिर जन्म नहीं होता। इसी का नाम मोक्ष है।

अब विचारणीय यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध– ये विषय प्रकृति के हैं। इन्हीं की कामना और वासना अनेक दुःखों का हेतु है। यही तो बन्धन है। इसी से छूटने का नाम मुक्ति है। यदि मुक्ति में भी मुक्तात्मा उक्त विषयों का भोग करता है तो वह प्रकृति के संयोग से ही

होगा। वह आनन्द का हेतु कैसे हो सकता है? जबकि महर्षि दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण का उदाहरण देते हुए लिखा है कि- मोक्ष में जीव के लिये यह व्यवस्था भी होती है:-

१. "शृण्वन्श्रोत्रं भवति। २. स्पर्शयन् त्वग्भवति। ३. पश्यन् चक्षुर्भवति। ४. रसयन् रसना भवति। ५. घ्राणयन् घ्राणं भवति।" अर्थात् विषयों का भोग आत्मा मोक्ष दशा में भी करता है।

छान्दोग्योपनिषद् (८-१२-१०) में तो यह भी कहा गया है कि जिस प्रदेश व कामना की मुक्त जीव अभिलाषा करता है, वह उसके संकल्प मात्र से उद्भूत हो जाता है। उससे युक्त होकर वह जीव आनन्दित रहता है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या मुक्ति में आत्मा को परमात्मा का आनन्द कम पड़ जाता है, जो वह प्रकृति के विषयों का भोग करता है? जो प्रकृति नश्वर, विकारी तथा दु:खों का हेतु है, उसके भोगने की लालसा यदि मोक्ष में भी बनी रहती है तो फिर सांसारिक और मुक्ति की दशा में क्या अन्तर रहा? यदि जीव संकाल्पनिक रूप में भी उनका भोग करता है तो इसको संकीर्णता और अज्ञान ही कहा जायेगा। यह तो ऐसा ही होगा जैसे- 'हीरा छोड़ दिया और कंकड़ बटोर लिये।' और यदि यह कहा जाये कि जीव मोक्ष में प्रकृति के माध्यम से परमात्मा का ही आनन्द प्राप्त करता है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि मोक्ष में तो जीव का सीधा सम्बन्ध परमात्मा से होता है।

प्रकृति में परमात्मा के रचना कौशल का अवलोकन करके आनन्दित होना तो ठीक है, यह तो सांसारिक तथा शारीरिक दशा में भी हो जाता है, **पर शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि की लालसा यदि मोक्ष में भी रहे तो यह बात समझ में नहीं आती।**

कृपया, उक्त जिज्ञासा का समाधान कर अनुगृहीत करें।

पुरुषोत्तम आर्य, विदिशा, मध्यप्रदेश

समाधान- जीव प्रकृति के बन्धन या मोक्ष- इन दो दशाओं के

अतिरिक्त तीसरी दशा प्रलय में मूर्च्छित दशा में भी रहता है। आपकी जिज्ञासा मुक्ति में आत्मा सांसारिक भोग करता है या नहीं, इस पर है। आपने अनेक प्रमाण भी दिये हैं, जिनसे लगता है कि आत्मा मोक्ष में सांसारिक भोग करता है। छान्दोग्योपनिषद् का वाक्य **''तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।''** मुक्तात्मा सभी लोकों में अपनी सभी कामनाओं को पूर्ण करता हुआ विचरण करता है। इसका यह सीधा अर्थ नहीं है, इसका सीधा अर्थ होगा ''उसका स्वेच्छा गमन सभी लोकों में हो जाता है, अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं होती। और जो ऋग्वेद ९.११३.९वाँ मन्त्र **''यत्रानुकामं चरणं......तत्र माममृतं कृधि।''** अर्थात् हे प्रभो! जहाँ मुक्तात्मा कामानुकूल विचरण करते हैं, वहाँ मुझे भी मुक्त कर दे।'' इस अर्थ की अपेक्षा महर्षि दयानन्द जी का अर्थ देखते हैं, ''हे परमात्मन्! जिस आपमें इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्र विहरना है, जिस त्रिविध अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख से रहित (त्रि) तीन (दिने) सूर्य, विद्युत् और भौम्य अग्नि से प्रकाशित सुखस्वरूप में कामना करने योग्य शुद्ध कामना वाले, यथार्थ ज्ञानयुक्त, शुद्ध विज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं, उस अपने स्वरूप में मुझको मोक्ष प्राप्त कीजिये और उस परमानन्दैश्वर्य के लिए कृपा से प्राप्त हूजिये।'' यहाँ महर्षि ने अर्थ करते हुए ''शुद्ध कामना वाले, यथार्थ ज्ञानयुक्त, शुद्ध विज्ञान युक्त'' ये विशेषण मुक्त पुरुष के लिए दिये हैं। इससे पता चलता है कि कामना तो मुक्ति में भी रहती है और वह कामना शुद्ध ज्ञानयुक्त होती है। आपकी समस्या 'कामना' व 'भोग' को लेकर है। पहले इन्हीं पर विचार कर लेते हैं। **ध्यान रखने योग्य बात यह है कि आत्मा कभी भी कामना रहित, भोग रहित नहीं हो सकता, चाहे सांसारिक दशा में हो या मोक्ष दशा में हो। जब जीवात्मा अविद्या से युक्त होता है, तब उसकी कामना केवल संसार के सुख भोगने की होगी और**

जब अविद्या से रहित ज्ञानयुक्त होता है, तब उसकी कामना केवल संसार के सुख-दुःख से छूटने और मोक्ष प्राप्त करने की होगी। ऐसा इसलिए, क्योंकि कामना (इच्छा) जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है, वह किसी भी दशा में छूट नहीं सकता। इसी प्रकार सकाम-निष्काम की भी बात है। जब कोई संसार के विषयों, प्रसिद्धि आदि के लिए कर्म करता है, तब वे कर्म सकाम होते हैं और जब केवल परमेश्वर के आनन्द मोक्ष के लिए कर्म करता, तब वे कर्म निष्काम कर्म होते हैं। कामना तो दोनों में हैं, क्योंकि सर्वथा कामना रहित होना असम्भव है। निष्काम का अर्थ सर्वथा सांसारिक कामनाओं से रहित हो, केवल ईश्वर की कामना का होना ठीक और संगत है।

इसी प्रकार भोग को भी हम निन्दित समझते हैं, किन्तु यह एकाङ्गी है। जब भोग अविद्या से युक्त होकर होगा, तब वह बन्धन का कारण बनेगा और जब वह विद्यायुक्त होगा, तब मोक्ष का साधन बनेगा। जब भोग उचित मात्रा में, धर्मपूर्वक, विद्यापूर्वक है तो वह निन्दनीय नहीं है और यदि इसके विपरित है तो निन्दनीय कह सकते हैं। इसलिए जहाँ कहीं शास्त्रों में, मोक्ष में कामना या भोग की बात आती है तो विचलित नहीं होना चाहिए।

आपने जो कहा "मुक्ति में शरीर रहित.... तब उस केवल परमात्मा के आनन्द की ही अनुभूति होती है।" इसमें ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि केवल ईश्वर के आनन्द की ही अनुभूति होती है, क्योंकि मोक्ष में आत्मा प्रलय अवस्था की अनुभूति करता है, यदि प्रलय काल चल रहा है तो। सृष्टिकाल है तो सृष्टि की, मोक्ष में अन्य मुक्तात्माओं की, ब्रह्माण्ड में कोई घटना होती है और मुक्तात्मा अनुभूति करना चाहता है तो उनकी अनुभूति होती है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध- ये विषय हैं, इनकी अविद्यायुक्त कामना और अविद्यायुक्त वासना दुःखों का हेतु हैं, यही बन्धन है। मुक्ति में मुक्तात्मा इन विषयों का भोग करता है (सांसारिक लोगों की तरह) ऐसा

किसी भी वेदादि शास्त्र में नहीं लिखा। महर्षि दयानन्द जी ने तो शतपथ का उदाहरण देते हुए लिखा '**शृण्वन् श्रोत्रं भवति.....अहं कुर्वाणोऽहंकारो भवति**'। यहाँ इन विषयों का अर्थ ज्ञान करना है। महर्षि का तात्पर्य भी यही है कि जब आत्मा परमेश्वर की विविध रचना को देखता है और उसके रूप, रस आदि का ज्ञान करना चाहता है तो अपनी स्वाभाविक शक्ति से कर लेता है, न कि उन पदार्थों को लक्ष्य बनाकर उनका विषय भोग करता है। इन विषयों को जानने से मुक्तात्मा में कोई विकार आ जाता हो या उसके आनन्द में कमी आ जाती हो- ऐसा कदापि नहीं है। क्योंकि परमात्मा भी सभी वस्तुओं को जानता है, अविद्या को जानता है, सृष्टिकाल में सदा इसके सम्पर्क में रहता है, यह सब होते हुए भी परमात्मा विकार युक्त नहीं होता। जीवनमुक्त पुरुष भी संसार में रहते हुए, संसार के विषयों के सम्पर्क में आता है, क्या इससे जीवनमुक्त पुरुष में विकृति आ जाती है ? ऐसा सर्वथा नहीं है। इसी प्रकार मुक्ति में मुक्तात्मा के लिए भी समझना चाहिए।

मोक्ष में आत्मा की विषयों को भोगने की लालसा कभी भी नहीं रहती है, हाँ इनका ज्ञान जब करना चाहता है, तब संकल्प मात्र से कर सकता है। इसको 'हीरे छोड़ कंकड़ बटोरना' नहीं अपितु 'कंकड़ छोड़ हीरे बटोरना' कहिए।

प्रकृति में परमात्मा के रचना कौशल का अवलोकन करके आनन्दित होना आप भी स्वीकार करते हैं। उसमें देखना तो हो ही गया, यदि इसके साथ ईश्वर के कला कौशल का सुनना-स्पर्श करना आदि भी हो तो उसमें क्या है ? यह काम सांसारिक व शारीरिक दशा में नहीं हो सकता, क्योंकि इस दशा में हम बहुत कम (तुच्छ) जान पाते हैं और मोक्ष में तो जितनी इच्छा हो उतनी जान सकते हैं। मोक्ष में इन स्पर्श आदि विषयों की अविद्या युक्त लालसा भी नहीं होती, क्योंकि वहाँ पर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में विद्यायुक्त रहता है।

जिज्ञासा २ – 'मोक्ष', 'मुक्ति' समानार्थक हैं या पर्यायवाची, जबकि 'आत्मा' को वेद, परमात्मा से पृथक्, अनादि, अनन्त कहता है। एक-एक आत्मा क्यों जीवन मुक्त अवस्था में देह धारण करेगी?

रमेश बंसल, ।।।/०६, बीसलपुर प्रोजेक्ट कॉलोनी, टोंक रोड, देवली-३०४८०४ (राज.)

समाधान – मोक्ष और मुक्ति दोनों ही शब्द समानार्थक हैं, दोनों का ही अर्थ छूटना है। दुःखों से नितान्त छूट जाने को मोक्ष अथवा मुक्ति कहते हैं। योगाभ्यास द्वारा यह सम्भव है। आत्मा निश्चित रूप से परमात्मा से पृथक् और अनादि है, किन्तु स्थान की दृष्टि से अनन्त नहीं है। जीवनमुक्त आत्मा देहधारण अपने पिछले कर्माशय के कारण करता है। इस शरीर के पश्चात् अगले शरीर प्राप्त न हों- इसके समस्त कर्माशय को जीवनमुक्त आत्मा नष्ट कर चुका होता है, किन्तु वर्तमान शरीर का कर्माशय नष्ट नहीं हुआ होता, वह तो इस शरीर के नष्ट होने पर ही नष्ट होता है, इसलिए जीवनमुक्त आत्मा इसको परमात्मा की व्यवस्था मानकर शरीर धारण किये रहता है। जब तक शरीर में रहता है, तब तक वह निरन्तर लोकोपकार करता रहता है और देह त्याग के पश्चात् परमात्मा के सान्निध्य मोक्ष में रहता है।

जिज्ञासा ३ – मैं वर्षों से सुनता आ रहा हूँ कि मुक्ति का मार्ग बड़ा कठिन है। इस मार्ग पर कोई विरला ही चल सकता है। ऐसा पढ़ा भी है। मेरी समझ में अब तक नहीं आया कि ये कठिनता क्या है, मुक्ति का मार्ग कठिन कैसे है? आधुनिक धर्म गुरु इसको बहुत सरल कहते हैं। मार्गदर्शन की आशा है।

– अतुल, सागर, मध्यप्रदेश

समाधान- प्राय: आध्यात्मिक व्याख्यानों में मोक्ष की चर्चा होती है, इस चर्चा में मोक्ष कौन प्राप्त कर सकता है, कैसे प्राप्त कर सकता है, इसके

साधन क्या हैं, मार्ग कैसा हो, कौन-सा हो, आदि बातें रखी जाती हैं। इन्हीं बातों के बीच मोक्ष मार्ग को बहुत कठिन भी बताया जाता है। आप इसी कठिनता को जानना चाहते हैं। इस विषय में हम कुछ विस्तार से लिखते हैं।

कोई मार्ग यदि सरल है तो यात्रा भी सरल हो जाती है और मार्ग ठीक नहीं है तो यात्रा भी कठिन हो जाती है। यात्रा केवल मार्ग सरल होने पर निर्भर नहीं करती, यात्रा तो यात्री पर भी निर्भर करती है। यदि यात्री कमजोर, रोगी, निरुत्साही और प्रमादी है तो वह ऋजु= सरल मार्ग पर भी यात्रा नहीं कर सकता और यदि यात्री बलवान्, स्वस्थ, उत्साही और उद्यमी है तो वह कठिन मार्ग से भी अपने गन्तव्य को प्राप्त कर लेगा।

आज बहुत से आधुनिक धर्मगुरु मतानुयायी जो कि मानसिक-शारीरिक बल से हीन, अस्वस्थ, निरुत्साही, प्रमादी हैं, यह दम्भ भरते हैं कि हम परमलक्ष्य तक पहुँच गये हैं। मुक्ति का मार्ग बड़ा सरल है। जो हमारा शिष्य बनेगा, उसको भी हम मुक्ति तक पहुँचा देंगे। उनका यह कथन मिथ्या प्रलाप मात्र है, क्योंकि शास्त्र कहता है-

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्।

-मुण्डकोपनिषद्-४/५७

यह आत्मा बलहीन अर्थात् शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक बल से हीन व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता, न प्रमादी को और न ही लक्ष्यहीन तप करने वाले को। जब हम इस शास्त्र वचन पर विचार करते हैं तो हमें लगता है कि इन मतानुयायी गुरुओं के पास वह वस्तु है ही नहीं कि जिसको परमलक्ष्य मोक्ष कहते हैं। वह तो वेदपथानुगामी ऋषियों के पास है। वैसे भी ऋषियों ने इस मार्ग को '**अणुः पन्था**' '**क्षुरस्य धारा**' आदि विशेषणों से युक्त कहा है। अर्थात् मोक्ष मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है, छुरे की धार पर चलने के बराबर है।

वह इसलिए है कि इस मार्ग में अपने-आपको प्रत्येक क्षण सांसारिक आकर्षणों से रोके रखना होता है। अपनी प्रत्येक इन्द्रिय और उसके विषय को समझना, मन और मन में पड़े संस्कारों को जानना, उनको तनु-कमजोर करना, दग्धबीज करना, बुद्धि को जानना कि यह क्या वस्तु है, मेरे लिए यह कल्याणकारी वा अकल्याणकारी कैसे सिद्ध हो सकती है, यह देखना विचारना बड़ा कठिन है। इसलिए मोक्ष मार्ग को कठिन कहा जाता है।

प्रायः व्यक्ति थोड़ी-बहुत सन्ध्योपासना करके, पूजा-पाठ अथवा मन्दिरों व तीर्थों का अटन करके, आजकल के नामधारी गुरुओं का शिष्य बनकर सोचते हैं कि हम मुक्ति के मार्ग पर हैं। यह सोचना उनका केवल भ्रममात्र है, क्योंकि शास्त्र इतने मात्र को मुक्ति का मार्ग नहीं कहता।

शास्त्र तो कहता है कि जिसका अन्तःकरण शुद्ध है और जो अन्तःकरण शुद्ध करने में लगा हुआ है, वह ही मोक्ष मार्ग का अधिकारी और मोक्षमार्ग का पथिक है। जब व्यक्ति अपनी शारीरिक क्रियाओं को देखता है, अर्थात् वह देखता है कि मेरा उठना-बैठना, चलना, मेरा हँसना, मेरे मुखमण्डल के भाव ऋषियों के तुल्य हैं या नहीं ? मैं शरीर से हिंसा, चोरी आदि कर्म तो नहीं कर देता ? इस मार्ग का पथिक अपनी वाणी के व्यवहार को देखता है कि मैं कहाँ-कहाँ बिना प्रयोजन के बोलता हूँ, कहाँ मुझसे असत्यभाषण होता है, मुझसे असत्यभाषण क्यों होता है ? कब मैं द्वेष से युक्त होकर वाणी से अप्रिय वचन बोलता हूँ ? इसी प्रकार मन का विश्लेषण करता है कि मेरे मन में कब कैसे भाव उठते हैं, ये भाव उठते हैं या मैं उठा लेता हूँ ? किसको देख-सुनकर मन के अन्दर कैसी प्रतिक्रिया होती है ? इन सबको मोक्षमार्गी बड़ी सूक्ष्मता से देखता है।

सब ऐषणाओं को छोड़कर इन सब शारीरिक, वाचनिक और मानसिक व्यवहारों को देखकर, जो इनमें से अधर्मपूर्वक व्यवहार है, उसको छोड़ता है और जो धर्मयुक्त व्यवहार है उसको करता है। ऐसा करने से व्यक्ति का

अन्तःकरण शुद्धता की ओर चल पड़ता है। **सांसारिक इच्छाओं को न रखकर केवल ईश्वर इच्छा के अनुकूल चलना, परमेश्वर की इच्छा को पहचानना, ऋषियों के मन्तव्यों को ठीक-ठीक समझना, उन मन्तव्यों के अनुकूल अपने-आपको चलाना, व्यवहार करना- ये बड़े कठिन कार्य हैं।** इसलिए ऋषियों ने इस मार्ग को **'अणुः पन्था' 'क्षुरस्य धारा'** कहा है। आप कठिनता को जानना चाहते हैं, तो आपको उपरोक्त बातों से इस मार्ग की कुछ कठिनता का ज्ञान हुआ होगा।

जिज्ञासा ४ - संसार में रहने की इच्छा क्यों रहती है?

- सेवानन्द आर्य, बहराइच, उ.प्र.

समाधान - अविद्या के कारण संसार में रहने की इच्छा होती है। जिस दिन अविद्या को हटा विवेक को पैदा कर लिया, उसी दिन संसार से वैराग्य हो जायेगा और इसमें रहने की इच्छा नहीं रहेगी। संसार में रहने की इच्छा हमारी अज्ञानता की द्योतक है।

जीवात्मा स्वभाव से सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता। जब तक संसार में सुख दिखता रहेगा, तब तक संसार अच्छा लगता रहेगा और जब संसार का सुख दुःख से मिश्रित लगने लगेगा तथा इस सुख से बड़ा सुख परमात्मा का अनुभव होने लगेगा, तब संसार में रहना अच्छा नहीं लगेगा।

संसार से छूटने के लिए विवेक जगाकर इसमें दुःख की अनुभूति करें। ऐसा करने से हम संसार से छूट कर महानन्द को प्राप्त हो जायेंगे।

जिज्ञासा ५ - हमारे त्रैतवाद के अनुसार आत्मा, परमात्मा एवं प्रकृति तीन अलग-अलग तत्त्व हैं। महर्षि दयानन्द के अनुसार मनुष्य अगर सत्कर्म करता है तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और पुण्य क्षीण होने पर फिर मृत्यु लोक में आना पड़ता है। किन्तु प्रश्न उठता है कि मोक्ष क्या है? क्या आत्म साक्षात्कार मोक्ष है? या ईश्वर साक्षात्कार मोक्ष है? क्या मोक्ष के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता? इसके सम्बन्ध में मन में अनेक प्रश्न उठते हैं,

कृपया, विस्तार से बतायें।

– सुरेश शर्मा, अजमेर

समाधान – वेद के आधार पर महर्षि दयानन्द का मन्तव्य त्रैतवाद का है। महर्षि परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति– इन तीनों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं, जो कि यथार्थ है। प्रकृति साधन है, ईश्वर साध्य है, स्वयं जीवात्मा साधक है। जब जीवात्मा इस जगत् में श्रेष्ठ कर्म करता है, सकाम पुण्य कर्म करता है, तब इसको इसके श्रेष्ठ कर्मों के आधार पर अत्यन्त सुख रूप फल मिलता है। जब पाप करता है, तब दुःख रूप फल भोगता है। आपने सत्कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति कही, आपकी बात से लगता है कि आप स्वर्ग को किसी लोक विशेष पर मानते हैं। **आप को बता दें, ऋषि ने स्वर्ग–नरक को किसी लोक विशेष पर नहीं माना है।** ऋषियों की मान्यता है कि जीव को विशेष सुख और सुख की सामग्री का प्राप्त होना स्वर्ग है। वह इस लोक वा अन्य लोकों पर भी हो सकता है। नरक विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को प्राप्त होना है। इस आधार पर स्वर्ग–नरक कहीं भी अर्थात् किसी भी लोक पर हो सकता है।

यह समस्त संसार ही मृत्यु लोक है, संसार में रहना ही मृत्यु लोक में रहना है। चाहे जीवात्मा के पास स्वर्ग है अथवा नरक, दोनों अवस्थाओं में मृत्यु लोक में ही रहता है। अमृत लोक तो परमेश्वर ही है।

आपने पूछा– मोक्ष क्या है? मोक्ष दुःखों से नितान्त छूटने का नाम है। जिसमें दुःख का लेश भी नहीं होता, सर्वथा सदा परमेश्वर के आनन्द में रहना मोक्ष है। इसी को वेद व अन्य शास्त्रों में अमृत, अमृतत्व पद, निःश्रेयस्, अपवर्ग, मुक्ति, हान, ब्रह्मलोक, अत्यन्त पुरुषार्थ, शाश्वतसुख, परमपद जैसे शब्दों से कहा है। महर्षि दयानन्द मुक्ति के विषय में अपना मत लिखते हैं कि "सब दुःखों से छूटकर बन्धन रहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना।" आपने जो पूछा था कि मोक्ष

क्या है, आपके इस प्रश्न का उत्तर महर्षि की इस परिभाषा में स्पष्ट हो गया। वह मोक्ष आत्म साक्षात्कार अथवा परमात्म साक्षात्कार नहीं है, अपितु सब दु:खों से छूटना मोक्ष है।

जब हम दु:ख के कारण को नष्ट कर देंगे, तब हम दु:ख से छूट सकते हैं। इस विषय में महर्षि गौतम ने अपने न्याय दर्शन में कहा है-

दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये
तदनन्तरापायादपवर्गः।

अर्थात् दु:ख का कारण जन्म है, शरीर का बन्धन है। जब शरीर (जन्म) नहीं तो दु:ख भी नहीं। जन्म का कारण प्रवृत्ति है अर्थात् अधर्म, अन्याय विषयासक्ति की वासना है। यह प्रवृत्ति होगी तो जन्म भी होगा और जन्म है तो दु:ख है। इस प्रवृत्ति का कारण लोभादि दोष हैं और दोष का कारण मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या है। **अर्थात् दु:ख का मूल कारण तो अविद्या है।** जब जीव की अविद्या नष्ट होगी तो दोष नहीं होंगे, दोष के न होने से प्रवृत्ति नहीं रहेगी और प्रवृत्ति के न होने पर जन्म नहीं होगा, जब जन्म नहीं होगा तो जीव को दु:ख भी नहीं होगा, अर्थात् जीव दु:ख रहित मोक्ष अवस्था में होगा, **इसलिए दु:ख के कारण को हटाने से मोक्ष होता है, केवल आत्मा वा परमात्मा साक्षात्कार से नहीं।**

उपरोक्त महर्षि की परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि मोक्ष के पश्चात् पुनः जन्म होता है। **केवल महर्षि दयानन्द ही मोक्ष से लौटना नहीं मानते, अपितु शंकराचार्य भी जीव का मोक्ष से लौटना मानते हैं।** देखिये छान्दोग्य उपनिषद् (३.१५.१) के भाष्य में वे लिखते हैं-

यावद् ब्रह्मलोक स्थितिः तावत्तत्रैव तिष्ठति,
प्राक्ततो नावर्त्तत इत्यर्थः।

अर्थात् जब तक ब्रह्मलोक में स्थिति है, तब तक जीव वहीं रहता है, अवधि की समाप्ति से पूर्व नहीं लौटता।

कर्मफल

जिज्ञासा १ – वैदिक मूल्यों के अनुसार किए गए कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है। यहाँ दो संभावनाएँ हैं कि फल इसी जन्म में मिले अथवा अगले जन्म में। मनुष्य को पिछले जन्म के बारे में कुछ भी याद नहीं रहता है। इसी के चलते कुछ साथियों को कहते देखा है- जितना भोगना है, वह इसी जन्म में भोग लो। अगले जन्म में तो ये याद रहेंगे नहीं।

कृपया, उचित समाधान देकर मार्गदर्शन करने का कष्ट करें।

रवि आर्य, म.नं. २-बी, सड़क-५१, सेक्टर-८, भिलाई पश्चिम दुर्ग, छत्तीसगढ़-४९०००९

समाधान – निश्चित रूप से वैदिक मूल्यों के आधार पर कर्मों का फल प्राप्त होता है। श्रेष्ठ कर्मों का श्रेष्ठ और निकृष्ट कर्मों का निकृष्ट फल भोगना होता है। फल इस जन्म वा अगले जन्मों में भोगा जाता है। यह तो निश्चित है कि इस जन्म का अगले जन्म में और पिछले जन्म का इस जन्म में याद नहीं रहता, **किन्तु यह भी निश्चित है कि इस जन्म में भी मुख्य-मुख्य विशेष घटनाओं को छोड़कर बहुत सारा जीवन हमारा ऐसा है, जिसका हमें कुछ भी याद नहीं है।** उसमें कर्म तो हमने किये ही हैं। कोई भी बतावे कि जब १४ वर्ष की अवस्था थी, उसके पाँचवे महीने के मध्य के पाँच दिनों में क्या किया था, कैसे हमारे हाथों ने चीजें उठाई थी, किस ओर हमारा मुँह था, क्या-क्या बातें कही थीं आदि-आदि? यह कोई न बता पावेगा, जब इस जन्म का पूरा-पूरा याद नहीं है तो पिछले जन्म की कथा ही क्या कहनी!

कुछ भी याद नहीं रहता, इसलिए अभी भोग लेवें, यह कहना ठीक नहीं, **क्योंकि ऐसा हम कैसे कह सकते हैं कि जो कुछ हम भोग रहे हैं, वह इसी जन्म का है और हमें याद है?** ऐसा हम कदापि निश्चित रूप से नहीं कह सकते। पूर्व जन्म में किसी की किसी से शत्रुता थी, अब

वह मित्र है। पूर्व जन्म में कोई किसी की पत्नी थी, अब बहन है, कोई किसी धनी पिता का पुत्र था, अब वह दरिद्र का पुत्र है- यह सब याद आने पर मनुष्य की क्या स्थिति होगी? कैसे व्यवहार करेगा? अतः यही व्यवस्था ठीक है कि आत्मा को पूर्व जन्म का कुछ भी याद नहीं रहता, इसी में आत्मा का अत्यन्त हित है।

जिज्ञासा २. निम्न सात जिज्ञासाएँ ब्र. सुनील आर्य, बीकानेर (राज.) की हैं, इनका समाधान भी क्रमशः प्रस्तुत है-

जिज्ञासा (क) किसी को अपने कर्मफल से स्त्री का जन्म मिले और वह आधुनिक तकनीक से लिङ्ग परिवर्तन कराके पुरुष बन जावे तो ईश्वर का उसे स्त्री बनने का दण्ड देना (व्यवस्था) तो बिगड़ गया?'

यदि कोई पुरुष स्त्री बन जावे तो ईश्वर द्वारा कर्मफल पूरा कैसे किया जावेगा, क्योंकि स्त्री तो पुरुष से न्यून जन्म माना गया है?

समाधान- ऐसा करके कोई भी पुरुष पूरी तरह स्त्री नहीं बन सकता और कोई भी स्त्री पूरी तरह पुरुष नहीं बन सकती। रही व्यवस्था बिगड़ने की बात तो परमेश्वर ने आत्मा को कर्म करने में स्वतन्त्रता दे रखी है, वह ऐसा कर सकता है, यह उसकी स्वतन्त्रता है। जो व्यवस्था बिगाड़ता है उसको ईश्वर दण्ड अवश्य ही देता है। यदि कोई पुरुष स्त्री बन जाता है तो पुरुष बनने रूपी कर्मों का शेष फल (जो बचा है) ईश्वर अगले जन्म में दे देगा। स्त्री को पुरुष जन्म से न्यून कहना उचित नहीं, क्योंकि वह भी कर्म करने में उतनी ही स्वतन्त्र है जितना की पुरुष। स्त्री भी पुरुषों की भाँति ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर सकती है।

जिज्ञासा (ख) किसी को कई जन्मों बाद व्याघ्र की योनि मिलने वाली है और तब तक व्याघ्र वंश ही नष्ट हो जावे तो उसका क्या फल होगा?

समाधान- यदि व्याघ्र योनि इस पृथिवी पर नष्ट हो गई तो भी परमेश्वर के लिए उन आत्माओं को फल देने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि

परमात्मा के इस विशाल ब्रह्माण्ड में हमारी पृथिवी की तरह और करोड़ों पृथ्वियाँ हैं, जहाँ महर्षि दयानन्द के अनुसार प्राणी जगत् है। ईश्वर ऐसी आत्मा को जिसको कि व्याघ्र की योनि मिलनी थी उसको अन्य पृथिवी पर पहुँचा कर फल दे देगा। अथवा मान लेवें (ऐसा होना असम्भव है फिर भी) कि सर्वत्र व्याघ्र योनि ही नष्ट हो गई **तो भी परमात्मा फल तो देगा ही, क्योंकि परमात्मा के पास अनेक सारे विकल्प भी हैं। वह व्याघ्र जैसी अन्य योनि में उस आत्मा को कर्मफल भोगने के लिए भेज देगा।**

जिज्ञासा (ग) दूरदर्शन के एक निजी चैनल के एक धारावाहिक में विगत दिनों में प्रश्न उठाया कि यदि 'विकलांगता' पूर्व जन्म में पैरों द्वारा किये गए पाप का फल है तो वर्तमान में जो पोलियो के मरीज मिलने बन्द हो गए हैं तो क्या पैर द्वारा पाप होने भी बन्द हो गए हैं?

समाधान- विकलांगता (पोलियो) पूर्व जन्म में किये पैरों द्वारा पाप का फल है- ऐसा पढ़ा-सुना नहीं है, क्योंकि पोलियो वाले बच्चे जब जन्म लेते हैं, तब उस समय उनके पैर ठीक-स्वस्थ होते हैं। बाद में जिन बच्चों की रोग प्रतिरोधक क्षमता कम होती है, उनको एक सूक्ष्म-जीव विशेष के कारण पोलियो होता है। जैसे-जैसे बच्चे वृद्धि को प्राप्त होते हैं और उनकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है, उनको पोलियो नहीं होता है। इसको बाल पक्षाघात भी कहते हैं। आजकल लगभग पाँच वर्ष के बच्चों को जो पोलियो की दवा पिलाई जाती है, वह भी रोग प्रतिरोधक क्षमता को ही बढ़ाती है, जिससे पोलियो नहीं होता है। वर्तमान में जो पोलियो के रोगी मिलने बन्द हो गये, इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि पैरों द्वारा पाप होने बन्द हो गये। कर्मफल व्यवस्था में शरीर, वाणी, मन इन तीनों के कर्म देख कर फल मिलता है, केवल पैरों के नहीं। यदि इस प्रकार के कर्म होते हैं तो परमात्मा उन कर्मों के फल को भुगाने में समर्थ है।

जिज्ञासा (घ) किसी का रंग काला है, किसी की आँख भूरी है, नाक टेढ़ी है अथवा जन्मान्ध है, परन्तु वर्तमान में लेजर तकनीक, सर्जरी आदि के द्वारा इन सबका समाधान किया जा रहा है, फिर ईश्वर का दण्ड कैसे सफल हो पायेगा ?

समाधान- शल्य चिकित्सा से जो त्वचा आदि को परिवर्तित करा लेते हैं और सुन्दर दिखने लगते हैं तो यह उनका पुरुषार्थ है। धन का व्यय उन्होंने किया है, इसलिए वे ऐसा कर पाये। पुरुषार्थ करना परमेश्वर आज्ञा का पालन करना है। जो उन्होंने त्वचा का परिवर्तन कराया, वह परिवर्तित त्वचा, स्वाभाविक त्वचा की तरह सहनशक्ति वाली नहीं होती, उसमें सर्दी-गर्मी सहन करने का सामर्थ्य वैसा नहीं, जैसा प्राकृतिक त्वचा में है। हाँ, ये काली त्वचा आदि उनका कर्मफल ही था और अब उन्होंने इसको बदल लिया, ऐसा करने से उनके कर्मफल नष्ट हो गये ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर भी जो उनका कर्मफल है, उसका दण्ड परमेश्वर अवश्य ही देगा। ईश्वर के दण्ड देने के भी कई विकल्प हैं।

जिज्ञासा (ङ) कोई अन्य व्यक्ति के अनजाने में किए दोष से विकलांग हो गया और जीवन भर दुःख भोगता रहा, तो अब पीड़ित को किस पाप का वा दोष का जीवनभर दुःख मिला ?

क्या अनजाने में दोष करने वाले को इसका दण्ड मिलेगा ? यदि मिलेगा तो क्यों ? क्योंकि इस कर्म में उसकी कामना नहीं थी और हो सकता है, हित की चाह में उसके द्वारा अहित हो गया हो।

समाधान- किसी दूसरे व्यक्ति से जाने-अनजाने में किये दोष से अन्य की जो हानि होती है, वह हानि कर्म का फल न होकर कर्म का परिणाम है। जिसकी हानि हुई है, यदि उसके कुछ पाप कर्म हैं जिनका फल उसको आगे मिलना था, उन पाप कर्म का फल इतने अंश में ईश्वर उसको नहीं देगा, क्योंकि वह दूसरे के द्वारा की गई हानि से भोग रहा है। यदि ऐसे पाप

कर्म नहीं थे तो परमेश्वर उसकी क्षतिपूर्ति करेगा, इस जन्म में अन्य सुख-सुविधाएँ प्राप्त कराकर अथवा अगले जन्म में। किसी के अनजाने में किए गए दोष का निश्चित रूप से दण्ड मिलेगा, भले ही इस कर्म में उसकी कामना न हो, क्योंकि उस कर्म को करने में उसकी अज्ञानता काम कर रही है। जो भी ज्ञान अथवा अज्ञान पूर्वक कर्म किये जाते हैं, उनका फल परमेश्वर देता है। महर्षि जी ने भी व्यवहारभानु में भाव व्यक्त किया है कि दो व्यक्ति कुएँ में गिरें, एक जानबूझकर और दूसरा अनजाने में। इन दोनों के हाथ-पैर तो टूटेंगे ही, भले जाने-अनजाने में कुएँ में गिरे हों।

जिज्ञासा (च) ''मैथुनाद् गर्भविकृतिः'' भावप्रदीप के अनुसार सन्ध्या काल में किए मैथुन से विकृत गर्भ ठहरता है, परन्तु शंका यह उठती है कि गर्भ विकृत किसके कर्म का फल है? क्या गर्भस्थ ने पूर्व जन्म में पापकर्म किया, उसका या जो माता-पिता ने सन्ध्या काल में मैथुन किया, उसका? यदि यह विकृति माता-पिता के कर्म का फल है तो निर्दोष गर्भस्थ को क्यों दण्ड मिला? यदि यह गर्भस्थ का पूर्व पाप का फल है तो माता-पिता दोषी नहीं होंगे?

समाधान- ऐसा होता हुआ लगता नहीं, फिर भी यदि सन्ध्या काल में किये मैथुन से विकृत गर्भ ठहरता है तो माता-पिता दोषी हैं ही, जो शास्त्राज्ञा का पालन नहीं कर रहे। रही विकृत गर्भ की बात तो परमेश्वर भी **ऐसे माता-पिता के पास इसी प्रकार की आत्मा भेजेगा, जिसके कर्म ही विकृत गर्भ वाले हों।** मान लेवें कि अच्छी आत्मा गर्भ में आ गई और बाद में गर्भ विकृत हो गया तो किसके कर्म का फल है? यहाँ अच्छी आत्मा आयी है तो पता चलता है, इसका तो ऐसा कर्म नहीं था, फिर भी जो इस आत्मा की हानि हुई, परमेश्वर उसकी क्षतिपूर्ति करेगा। और यदि गर्भ विकृत माता-पिता वा किसी अन्य के द्वारा हुआ है तो वे दोषी हैं, उनको दण्ड मिलेगा ही।

जिज्ञासा (छ) वर्तमान की स्थिति देख ऐसा लगता है मानो कुछ समय बाद ईश्वर केवल जाति ही दे पाएगा, उसमें कनिष्ठ, मध्यम, उत्तम नहीं दे पाएगा, यहाँ तक कि स्त्री-पुरुष का भेद भी नहीं दे पाएगा, क्योंकि हर समस्या का समाधान हो रहा है, फिर ईश्वर कर्मफल की व्यवस्था कैसे कर पाएगा?

समाधान- वर्तमान की स्थिति देख इतना निराश होने की आवश्यकता नहीं है कि आज प्रत्येक समस्या का समाधान हो रहा है, ऐसे में ईश्वर कर्मफल कैसे दे पायेगा? वर्तमान में अथवा भविष्य में प्रत्येक समस्या का समाधान जीवात्मा कर लेवे- ऐसा सम्भव ही नहीं है, क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ है। प्रत्येक समस्या का समाधान तो सर्वज्ञ परमेश्वर ही कर सकता है। आपने लिखा 'कुछ समय बाद परमेश्वर केवल जाति ही दे पायेगा, उसमें कनिष्ठ, मध्यम, उत्तम नहीं दे पायेगा।' ऐसा नहीं है, क्योंकि कोई कितनी भी समानता बनाना चाहे तो भी सब समान हो ही नहीं सकते, कनिष्ठ, मध्यम, उत्तम तो रहेंगे ही, क्योंकि सब आत्माओं के अपने-अपने अलग-अलग संस्कार हैं, इसलिए बाह्य रूप से अथवा आन्तरिक रूप से सब समान नहीं हो सकते। रही स्त्री-पुरुष के भेद न होने की बात तो यह भी असम्भव है। आप ही मानते हैं कि लिङ्ग परिवर्तन करा कर कोई स्त्री पुरुष बनता है तो कोई पुरुष स्त्री, यहाँ भेद तो अपने-आप आ ही गया। भले ही हर समस्या का समाधान हो रहा हो, फिर भी ईश्वर को कर्मफल देने में कोई बाधा नहीं, क्योंकि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है। नई-नई समस्यायें व नये-नये रोग भी पैदा हो रहे हैं।

जिज्ञासा ३ - क्या मनुष्य के प्रार्थना करने से ईश्वर उसके दुःखों को दूर कर सकता है? क्योंकि सुख-दुःख, रोग, जरा, मरण ये द्वन्द्व तो शरीर के साथ अनिवार्य हैं। मनुष्य अपने दुःखों-रोगों को दूर करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है, क्या ईश्वर उसकी प्रार्थना सुनता है? सुनकर उसके

दुःखों को हरता है? कहते हैं- रोग, शोक अपने कर्मों के फल हैं, उन्हें भुगतना ही पड़ता है। रोग मिथ्या आहार-विहार, प्रज्ञापराध से उत्पन्न होते हैं। वैद्य की सलाह से मिथ्या-आहार विहार बन्द करके सम्यक् औषध सेवन से रोग दूर होते हैं। ये सब कर्मज हैं। जरा आदि अपरिहार्य हैं, उन्हें कोई मिटा नहीं सकता। इसी तरह मृत्यु भी अनिवार्य है, इसमें ईश्वर का कुछ लेना-देना नहीं है। फिर ईश्वर भजन क्यों करें मानव?

गीता में कहा गया है-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते।।
नादत्ते कस्यचित् पापं, न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।

(५.१४, १५)

इस सबसे भी ऊपर लिखी बात का समर्थन होता है, फिर ईश्वर का भजन क्यों करें मानव?

ईश्वर को चापलूसी पसन्द नहीं है। पाप कर्मों की सजा वह अवश्य देता है। चाहे कितनी ही प्रार्थना कर ले। बुरे पाप कर्मों का फल भुगतना ही पड़ता है, अतः मनुष्य शुभ कर्म करे, यही निष्कर्ष है। फिर लोग अपने दुःखों को दूर करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, यह सब व्यर्थ है।

शुभ कर्म करने वाले सुखी रहते हैं, फिर ईश्वर भजन क्यों करें, यह एक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा है, जो चिन्तन के आधार पर उत्पन्न होती है।

अतः इस जिज्ञासा का समाधान विद्वान् लोग कर सकते हैं। यही अपेक्षा है।

डॉ. एस.एल. वसन्त, फजिल्का, पंजाब

समाधान- मनुष्य के प्रार्थना करने से ईश्वर दुःख दूर करता भी है और नहीं भी करता। प्रार्थना से दुःख दूर तब होते हैं, जब हमारे पुण्य का

कर्माशय भरा हो और उस प्रार्थना से अन्यों की हानि न होती हो व वह प्रार्थना वेदानुकूल हो और जब हमारा पुण्य कर्माशय ऐसा नहीं है, तब प्रार्थना से दुःख दूर नहीं होते। हाँ, इतने पर भी यदि हमने पूर्ण पुरुषार्थ किया है, पुरुषार्थ करने के पश्चात् कोई और मार्ग हमें नहीं सूझ रहा है, तब समर्पण भाव से प्रार्थना करते हैं तो परमेश्वर का सहाय अवश्य प्राप्त होता है। परमेश्वर न्यायकारी व कृपालु है, उसका न्याय व कृपा यही है कि श्रेष्ठ पुण्यात्माओं व धर्म से पुरुषार्थ करने वालों को दुःख से दूर करना और अपुण्यात्माओं व आलसियों को यथायोग्य दण्ड देना।

यदि व्यक्ति ठीक-ठीक सिद्धान्त को जानता है तो वह ईश्वर का भजन, प्रार्थना अवश्य करेगा। हमें प्रार्थना के स्वरूप व उसके फल को ठीक से समझ लेना चाहिए। इस विषय में हमें भ्रम इसलिए हो जाता है, क्योंकि हम प्रार्थना के स्वरूप व फल को अच्छी तरह से जाने-समझे हुए नहीं होते। प्रार्थना का स्वरूप महर्षि दयानन्द लिखते हैं "अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर वा किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य के सहाय लेने को प्रार्थना कहते हैं" आर्योद्दे.। "…..अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है" स.प्र.। यहाँ प्रार्थना में महर्षि ने मुख्य रूप से पुरुषार्थ पर बल दिया है, केवल प्रार्थना मात्र पर नहीं। जब व्यक्ति धर्म से पुरुषार्थ करता है, तब परमेश्वर सहायता करता ही है। सबके उपकार करने की प्रार्थना में परमेश्वर सहायक होता है, किसी के हानिकारक कर्म में नहीं।

प्रायः हम प्रार्थना का फल दुःख दूर होना, रोग-शोक दूर होना, साधन-सुविधाओं का मिलना ही मानते हैं, मान लेते हैं, किन्तु प्रार्थना का फल यही नहीं है, उसका फल अन्य भी है। इस विषय में महर्षि लिखते हैं, "**अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण ग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना प्रार्थना का फल है।**" आर्योद्दे. "**प्रार्थना**

से निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना।'' स.प्र.। जब प्रार्थना की जाती है, तब ये फल हमें प्राप्त होते हैं। यदि हमारी प्रार्थना ठीक-ठीक है तो हमारे अन्दर सरलता, नम्रता, गुणों के प्रति आकर्षण और उनको प्राप्त करने का प्रयत्न, आत्मा के अन्दर उत्साह, मानसिक शान्ति का होना आदि निश्चित रूप से होगा ही। जब ऐसा होगा तो स्वभाविक रूप से दुःख दूर होकर सुख प्राप्त होंगे तथा जीवन शान्ति से व्यतीत होगा। भले ही बाह्यरूप में दुःख, रोगादि दिखें, किन्तु उनको सहन करने का बल, ज्ञान आन्तरिक रूप से परमेश्वर अवश्य देता है, इसलिए प्रत्येक को परमात्मा से प्रार्थना अवश्य करनी चाहिए।

सभी रोग, शोक, दुःख कर्मों के फल नहीं हैं, अन्य प्राणियों के द्वारा अथवा हमारे अपने अज्ञान से भी वे मिल सकते हैं, मिले हैं। यदि हम सभी कुछ कर्मों का फल मानते हैं और उनको भोगना ही पड़ेगा ऐसी मान्यता भी है तो उनको दूर करने का उपाय भी नहीं करना चाहिए, फिर भी हम उपाय करते हैं। जैसे औषधोपचार करके, साधन-सुविधा एकत्रित करके, ज्ञान को बढ़ा करके अपने रोग, शोक आदि को दूर करने का उपाय करते हैं, वैसे ही धर्म पूर्वक पुरुषार्थ करते हुए परमेश्वर से प्रार्थना करना भी एक प्रबल उपाय है।

जरा-मृत्यु अनिवार्य है, इसलिए इसमें ईश्वर का कुछ लेना-देना नहीं, यह कहना उचित नहीं, क्योंकि जरा और मृत्यु की व्यवस्था भी ईश्वर ने ही हमारे कल्याण के लिए कर रखी है। शरीरों की रचना परमेश्वर ने इस प्रकार की रखी है कि ये आयेंगी ही, मूल व्यवस्था में तो ईश्वर का लेना-देना है ही। यदि हम जरा-मृत्यु के दुःख को देख, इससे बचने का उपाय खोजें तो वह उपाय परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना ही मिलेगी, इसलिए ईश्वर से प्रार्थना करनी ही चाहिए।

गीता के ये दोनों श्लोक भी ईश्वर प्रार्थना का निषेध नहीं कर रहे। गीता

में तो ईश्वर समर्पण की ही बात आती है। इन श्लोकों में जीवात्मा के कर्म करने की स्वतन्त्रता को बताया है, जीव कर्म करता है, कर्मफल से संयुक्त होता है- यह स्वाभाविक है। यहाँ ईश्वर जीव के कर्त्तापन, कर्म आदि की रचना नहीं करता, न ही ईश्वर किसी के पाप को लेता और न पुण्य को बढ़ाता है। इन दोनों श्लोकों की बातें सिद्धान्त को पुष्ट कर रही है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, वह कर्म करता, फल को पाता है- यह स्वाभाविक है, परमात्मा उनको स्वाभाविक रूप से फल देता है। जिसके जितने पाप-पुण्य है, वह उतना ही (न कम न अधिक) फल भोगता है- यही ईश्वर का न्याय है।

हाँ, यह निश्चित है कि ईश्वर चापलूसी पसन्द नहीं करता, किन्तु यथार्थता को तो पसन्द करता है। झूठी प्रशंसा, प्रार्थना से कुछ नहीं बनता। यह अवश्य है कि पाप कर्मों की सजा अवश्य मिलती है, व्यक्ति चाहे जितनी प्रार्थना करे। परन्तु यदि व्यक्ति ईमानदारी से अच्छा बनना चाहता है और उसके लिए पुरुषार्थ करता है और तब प्रार्थना करता है तो दयालु परमेश्वर उसको उत्साह देकर सहयोग करता है, शक्ति सामर्थ्य देता है, इसलिए प्रार्थना करनी चाहिए।

पाप कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा यह निश्चित है, किन्तु एक व्यक्ति ईश्वर के प्रति आस्था न रखता हुआ भोगता है और एक आस्था रखता हुआ भोगता है। दोनों में अन्तर मिलेगा। आस्था रहित रो-रो कर भोगता है और आस्था वाला धैर्य पूर्वक भोगता है, यह ईश्वर कृपा का फल है।

शुभ कर्म करने वाले सुखी रहते हैं- यह भी ईश्वर की ही व्यवस्था है, अन्यथा संसार में वे भी दुःखी, अशान्त मिलते, इसलिए सर्वत्र ईश्वर की व्यवस्था को देखें और ईश्वर की भक्ति विशेष करें। सच्ची भक्ति, प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं होती।

जिज्ञासा ४ - (क) किसी व्यक्ति के अपराध को क्षमा करने पर

कर्मफल से क्या बचेंगे?

(ख) व्यक्ति ने पेड़ लगाया या संस्था चलाई, क्या मृत्यु के बाद ही पुण्य मिलेगा?

डॉ. अशोक कुमार गुप्त, ग्रा.पो. चाँदपुरी, बेहट रोड, वेद मन्दिर, सहारनपुर, उ.प्र.

समाधान (क) किसी व्यक्ति के अपराध क्षमा करने पर, क्षमा होने वाला व्यक्ति कर्मफल से नहीं बचेगा। जिसने जिस स्तर का अपराध किया है, उसको वैसा उतना फल भोगना ही पड़ेगा, यही वेदादि शास्त्र का नियम है। अपराध का दण्ड मिलना, उसको भोगना- यह सब हमारे लिए कल्याणकारी है, इसी से हमारे पाप कर्म नष्ट होते हैं। भले ही सांसारिक व्यक्ति किसी के अपराध को क्षमा कर देवे, किन्तु परमेश्वर पाप कर्म-अपराध को क्षमा नहीं करता। महर्षि दयानन्द इस विषय में प्रश्नपूर्वक स.प्र. में लिखते हैं-

"**प्रश्न**- ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है वा नहीं?

उत्तर- नहीं। क्योंकि जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन के उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये। जैसे राजा अपराधियों के अपराध क्षमा कर दे तो वे उत्साहपूर्वक अधिक-अधिक बड़े-बड़े पाप करें, क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उनको भी भरोसा हो जाये कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे। और जो अपराध नहीं करते, वे भी अपराध करने से न डर कर पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे। इसलिए सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।" महर्षि के इस वचन से ज्ञात होता है कि कर्मफल तो भोगना ही पड़ेगा।

(ख) पुण्य तो वृक्ष लगाने, संस्था चलाने वा पुस्तक लिखने रूपी

कर्म के साथ-साथ ही मिल जाता है। हाँ, उस पुण्य का फल कब मिलता है- यह विचारणीय है। कर्मफल देना परमेश्वर के आधीन है। वह जब उचित समझता है और जब हमारे कर्म, फल देने की ओर उन्मुक्त होते हैं, तभी परमेश्वर फल देता है। वह फल इस जन्म में अथवा मृत्यु के बाद अगले जन्मों में भी होता है, हो सकता है।

जिज्ञासा ५- महाभारत में एक स्थान पर आया है कि मनुष्य जिस-जिस शरीर (स्थूल या सूक्ष्म) से जैसा कर्म करता है, वह उसी-उसी शरीर से फल प्राप्त करता है। मैं इस विषय में पूछना चाहता हूँ कि क्या सूक्ष्म शरीर से भी कर्म किया जा सकता है?

- अजयसिंह चौहान, आर्य निवास, आदर्श कॉलोनी, पलवल

समाधान - केवल सूक्ष्म शरीर से न तो कर्म किया जा सकता है और न ही फल भोगा जा सकता है, अर्थात् बिना स्थूल शरीर के सूक्ष्म शरीर कर्म नहीं कर सकता और न ही स्थूल में रहते हुए सूक्ष्म शरीर से किये कर्मों का फल केवल सूक्ष्म शरीर के द्वारा भोगा जा सकता। जीवात्मा सूक्ष्म शरीर सहित स्थूल शरीर में रहते हुए मन, वाणी, शरीर से कर्म करता है। मुख्य रूप से ये ही उसके कर्म करने के साधन हैं। न्यायदर्शन, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में इन्हीं तीनों के कर्मों का वर्णन है, पृथक् से सूक्ष्म शरीर के कर्मों का कथन नहीं किया गया है।

अधर्म से युक्त होकर जीवात्मा शरीर, वाणी, मन से १० शुभ कर्म और १० अशुभ कर्म करता है। शरीर से तीन अशुभ कर्म-

'शरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति'

हिंसा, चोरी और शास्त्रनिषिद्ध मैथुन अर्थात् परस्त्री गमन आदि। वाणी से चार अशुभ कर्म-

'वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि'

असत्य बोलना, कठोर बोलना, निरायुक्त कठोर वचन बोलना, असंगत बोलना (व्यर्थ कुछ का कुछ बोलना)।

मन से तीन अशुभ कर्म-

'मनसापरद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति'

दूसरे से द्रोह रखना, अन्याय से दूसरे के द्रव्य की प्राप्ति की इच्छा और नास्तिकता अर्थात् ईश्वर, वेद, धर्म, पुनर्जन्म आदि को न मानना।

इसी प्रकार शरीर से तीन शुभ कर्म-

'शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च'

योग्यों को दान देना, रक्षा करना और सेवा शुश्रूषा करना।

ये वाणी से चार शुभ कर्म-

'वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति'

सत्य बोलना, हितकारी बोलना, प्रिय बोलना और वेदादि का स्वाध्याय करना।

मन से तीन शुभ कर्म- **'मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति'**

दया करना, लोभ न करना और ईश्वर, शास्त्र व गुरु आदि के प्रति श्रद्धा रखना। ये सब शुभ-अशुभ कर्मों का वर्णन न्याय दर्शन १.१.२ के वात्स्यायन भाष्य में है। यहाँ पृथक् से सूक्ष्म शरीर से कर्म करने का कथन नहीं है।

इसी प्रकार का वर्णन मनुस्मृति में आता है-

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।।
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।।
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।।

मनु. १२.५-७

उपरोक्त भाव इन श्लोकों का भी है, यहाँ भी पृथक् से सूक्ष्म शरीर की चर्चा नहीं है, इसलिए आत्मा केवल सूक्ष्म शरीर से कर्म करता हो ऐसा कहीं सिद्ध नहीं है। हाँ, मन और वाणी सूक्ष्म शरीर के अवयव अवश्य हैं, उसके अवयव होते हुए भी बिना स्थूल शरीर के ये कर्म नहीं कर सकते। फिर भी कोई इनको सूक्ष्म शरीर के रूप में भिन्नता की दृष्टि से देखना चाहे तो देख सकता है।

जिज्ञासा ६ - योगपथ पुस्तक में स्वामी विष्वङ् जी का लेख पढ़ा। आपने लिखा 'स्वतन्त्र व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता से अन्यों को सुख भी दे सकता है और दुःख भी दे सकता है।' यह सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सुख-दुःख जो भोग हैं, वे कर्मों के फल हैं। हम कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, फल तो ईश्वर आधीन है। हम चाहते हुए भी किसी को सुख वा दुःख नहीं दे पाते, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आगे लिखा 'अन्य के द्वारा किये जाने वाले कर्मों से हमें सुख-दुःख मिलता है, तो वह सुख-दुःख हमारे लिये परिणाम और प्रभाव तो हो सकते हैं, परन्तु हमारे कर्मों का फल नहीं है।' वैदिक मान्यता है कि अन्य के कर्म का फल अन्य को नहीं मिलता। यहाँ आपत्ति यह है कि कर्म तो दूसरे ने किया और फल हमें मिला, जब वह फल हमारे कर्म का है ही नहीं। यहाँ बिना कर्म के फल माना गया, जो सम्भव नहीं। वेदों के अनुसार ऋषि दयानन्द जी की मान्यता है कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, किन्तु सुख वा दुःख रूप फल भोगने में परतन्त्र है। आपने परिणाम और प्रभाव को सुख-दुःख से अलग माना है, वे भी तो कर्म का ही फल होते हैं, जो दूसरे व्यक्ति के कर्म से हमें भुगतने पड़ रहे हैं, जो ईश्वर की अनुमति के बिना हमें नहीं मिल सकते। ईश्वर सब व्यवहारों में व्यास है, हमारा रक्षक है, उसने हमारी रक्षा क्यों नहीं की? जबकि हमारे कर्म का भोग ही नहीं था। कृपया, मेरी शंका का समाधान करें।

- वीरसेन आर्य, कार्यालय एक्स.इ.एन.एम. एण्ड पो. वीजन, पुराना बिजली घर, रोहतक, हरियाणा

समाधान- परोपकारी अक्टूबर द्वितीय २०१३ के अंक में आये 'आध्यात्मिक चिन्तन के क्षण' में लिखे कर्मफल व्यवस्था पर आपकी आपत्ति व जिज्ञासा है। आपके लेख से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आपकी मान्यताएँ इस प्रकार की हैं- १. हमारा जो भी सुख-दुःख रूप योग है, वह सब हमारे कर्मों का फल है। २. हम चाह कर भी किसी को सुख-दुःख नहीं दे सकते। ३. कर्मों का फल ही होता है, परिणाम व प्रभाव नहीं होता अथवा परिणाम व प्रभाव भी फल ही हैं। ४. आपका प्रश्न है कि ईश्वर सर्वरक्षक होते हुए भी परिणाम व प्रभाव से जिनको बिना कर्म के दुःख मिलता है, उनकी रक्षा क्यों नहीं करता?

इन सभी बातों पर क्रमशः विचार करते हैं- प्रथम तो ये कि जो हमें सुख-दुःख होता है, वह हमारे कर्मों का फल होता है, किन्तु सभी सुख-दुःख हमारे कर्मों के फल नहीं हैं। हमारे अपने अज्ञान से भी हम बिना कर्मों के सुखी-दुःखी होते रहते हैं। अन्य कोई हमारे बिना कर्मों के न्याय-अन्याय पूर्वक सुख-दुःख दे सकता है, देता है। क्योंकि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, जिसको आप भी मानते हैं और ये जो आपने कहा कि "हम चाहते हुए भी किसी को सुख-दुःख नहीं दे सकते, इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है।" यह कथन प्रत्यक्ष व सिद्धान्त के विपरीत है।

हम प्रायः प्रत्येक दिन देखते हैं कि कोई किसी को सुख दे रहा है और कोई दुःख दे रहा है। इसी आधार पर व्यक्ति प्रेम व द्वेष करता है। किसी को (सुख देने वाले को) सम्मान से विभूषित करता है तो किसी को (दुःख देने वाले को) दण्ड से दण्डित करता है, लोक में प्रत्यक्ष तो यह देखा जाता है।

जो हमसे चेष्टा विशेष=कर्म विशेष होता है, वह सब हमारी इच्छा से, चाह से होता है। शास्त्र में आत्मा का एक गुण इच्छा भी लिखा हुआ है।

यदि इच्छा नहीं है तो हम से कर्म विशेष भी नहीं होगा। अब देखिये, जब कोई व्यक्ति किसी की सहायता करता है, तब उस सहायता से सहायता लेने वाले को सुख मिलता है। इस सुख का मिलना किसकी इच्छा से कहेंगे, सहायता करने वाले की इच्छा से वा परमेश्वर की इच्छा से? ऐसा ही दुःख के विषय में कि कोई आतंकवादी किन्हीं लोगों को बन्दी बनाकर यातनाएँ देता है, उससे जो दुःख होता है, वह किसकी इच्छा से होता है? आतंकवादी की या परमात्मा की? यहाँ मानना पड़ेगा, माना जाता है कि जो इस प्रकार का सुख-दुःख मिला, वह किसी व्यक्ति विशेष की इच्छा से मिला है, न कि परमेश्वर की इच्छा से।

यदि आपकी मान्यता के अनुसार यह माना जाये कि सब सुख-दुःख हमारे कर्मों का ही फल है, तो जो हमारी सहायता करने वाला है, उसको धन्यवाद करने, उसका उपकार मानने वा उसका सम्मान करने की भी आवश्यकता नहीं है। यह नहीं करना चाहिए, क्योंकि सहायता का मिलना, उससे सुख का होना, यह सब हमारे कर्मों का फल है और यह ईश्वर ने हमें दिया है। सहायता करने वाले का इसमें कोई लेना-देना नहीं। इसी प्रकार आतंकवादी के द्वारा यातनाएँ देने पर, दुःख देने पर उसको दण्ड भी नहीं देना चाहिए, क्योंकि उसके द्वारा जो दुःख मिला है, वह तो कर्मों का फल है। इसमें आतंकवादी का दोष कहाँ है? आपकी मान्यतानुसार सहायता करने वाले का उपकार कर्म और आतंकवादी का दोषयुक्त कर्म नहीं होता, यह भी मानना पड़ेगा, जो कि ठीक नहीं है।

एक और भी- ऐसा मानने पर जीवात्मा की स्वतन्त्रता वाला सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा, क्योंकि जो कोई किसी को सुख-दुःख दे रहा, वह अपनी इच्छा से, स्वतन्त्रता से नहीं दे रहा, वह परमेश्वर से बन्धित होकर, परमेश्वर की इच्छा से दे रहा है। आपकी मान्यता मानने पर सुख देने वाले को पुण्य और दुःख देने वाले को पाप भी नहीं होगा, नहीं होना चाहिए और

जो वेद में परमात्मा ने व वेद को मानने वाले ऋषियों ने हम मनुष्यों के लिए उपदेश किया कि कोई किसी को दुःख न दे, सुख ही देवे, यह भी व्यर्थ हो जायेगा। सरकार द्वारा नियम बनाने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जिसको जिस किसी के द्वारा जो सुख–दुःख मिलना है, वह तो मिलेगा ही चाहे नियम बनावें या न बनावें– इत्यादि बहुत सी गलत बातों को मानना पड़ेगा।

एक ओर आत्मा को स्वतन्त्र मानना और दूसरी ओर यह कहना कि कोई किसी को चाह कर भी सुख–दुःख नहीं दे सकता– ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। यदि स्वतन्त्र है तो वह अपनी इच्छा से किसी को सुख–दुःख दे सकता है और यदि अपनी इच्छा से सुख–दुःख नहीं दे सकता तो वह स्वतन्त्र नहीं।

आप कर्म के फल को ही मान रहे हैं सो ठीक नहीं है। कर्मफल, परिणाम व प्रभाव ये तीनों होते हैं। कर्म का फल तो निश्चित रूप से कर्म को करने वाले को ही मिलेगा, मिलता है, किन्तु कर्म का परिणाम व प्रभाव अन्यों को भी हो सकता है, होता है। कर्म का फल निश्चित मात्रा में होता है, परिणाम व प्रभाव न्यूनाधिक हो सकता है।

इन तीनों को एक उदाहरण से समझें– जैसे किसी ने किसी सज्जन पुरुष की हानि कर दी। इस हानि रूप कर्म का फल इसी हानि करने वाले को ही मिलेगा अन्य को नहीं। इसको जो दुःख रूप भोग मिलेगा, वह उस कर्म का फल होगा। यहाँ यह आपत्ति भी नहीं रहती कि कर्म कोई करे और फल कोई भोगे। हानि करने रूप कर्म से जिस सज्जन पुरुष की जो हानि हुई है, वह इस कर्म का परिणाम है और जो इस सज्जन पुरुष से प्रेम वा द्वेष करते थे, उनको इस हानि को देखकर सुख वा दुःख का होना यह प्रभाव है। ये परिणाम और प्रभाव कर्म का फल नहीं हैं, कर्म का फल इनसे पृथक् होता है। यदि इनको भी कर्म का फल मानते हैं तो पूर्वोक्त गलत बातों को भी मानना पड़ेगा जो कि सिद्धान्त विरुद्ध हैं।

अब रही बात हमारे बिना कर्म के अन्य के द्वारा किये कर्म से परिणाम व प्रभाव से मिले दुःख में ईश्वर हमारी रक्षा क्यों नहीं करता? इसका उत्तर है, ईश्वर रक्षा करता है, किन्तु जैसे कुछ लोग सोचते हैं, वैसे रक्षा नहीं करता। उसकी रक्षा करने की शैली न्याययुक्त है कि जीवों के कर्म करने की स्वतन्त्रता भी बनी रहे और रक्षा भी हो जाये। ईश्वर न्यायकारी है, उसके न्यायकारी होने से, जिस जीवात्मा को दूसरे के किये कर्म से अन्याय पूर्वक दुःख मिला है, उसकी क्षतिपूर्ति इस जन्म वा अगले जन्म में परमेश्वर करता है, करेगा और जिसने अन्याय किया है, उसको यथायोग्य दण्ड देता है, यह उसकी रक्षा है। वेदों में हमें उपदेश किया है, यह उपदेश उस परमेश्वर की रक्षा है। बुरे काम करने वाले की आत्मा में लज्जा, भय, शंका पैदा करना- ये सब उसकी रक्षा है, उसके द्वारा रक्षा करना है।

इसलिए जो परोपकारी अक्टूबर द्वितीय २०१३ के पृष्ठ ७ पर कर्मफल विषय में लिखा गया है, वह सिद्धान्तानुकूल होने से ठीक लिखा गया है।

इस विषय में अधिक जानकारी के लिये श्रद्धेय आचार्य सत्यजित् जी द्वारा लिखे जिज्ञासा समाधान परोपकारी अक्टूबर द्वितीय २०११ से जनवरी प्रथम २०१२ के लेख पढ़ें।

जिज्ञासा ७ - प्रायः उपदेशक जन एक श्लोकार्ध- **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्.'** वक्तव्यों में सुनाया करते हैं। इसका पता एवं पूरा श्लोक देने की कृपा करेंगे, मुझे अभी तक इसका पता नहीं मिला है।

- स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती 'वेदभिक्षु', आर्यसमाज बिहारीपुर, बरेली-२४३००३ (उ.प्र.)

समाधान- आपने जो श्लोक पूछा है, वह ब्रह्मवैवर्त पुराण का है। पूरा श्लोक यह है-

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।।

ब्रह्म वै. प्रकृति. ३७.१६

उपदेशक वर्ग और भी श्लोकांश बोलते रहते हैं, कदाचित् आपको उनका ज्ञान होगा। फिर भी हम यहाँ अन्य पाठकों की दृष्टि से वे पूरे श्लोक व उनका पता लिखते हैं-

बन्धाय विषयाऽसक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।।

यह चाणक्य नीति के १३वें अध्याय का ११वाँ श्लोक है। यही श्लोक पंक्ति विपर्यय से मैत्रायण्युपनिषद् (६.३४) में भी मिलता है-

गावो वितन्वते यज्ञं, गावो विश्वस्य मातरः।
शकृन्मूत्रं पयोऽमृतं, अलक्ष्म्याः तापनं परम्।।

३.४२.२

यह श्लोक विष्णु पुराण के परिशिष्ट विष्णु धर्मोत्तर पुराण का है।

जिज्ञासा ८ - मेरे मन में कई वर्षों से अनेक प्रश्न घर किये हुए हैं। बहुत सोचने-विचारने पर भी मैं उनका उत्तर नहीं खोज पाया। कई विद्वानों से भी पूछा, किन्तु सन्तुष्टि नहीं मिली। अब परोपकारी के माध्यम से उन प्रश्नों का उत्तर जानना चाहता हूँ, **क्योंकि आर्यजगत् की वा अन्य पत्रिकाओं में कहीं प्रश्नों के उत्तर नहीं देखे। परोपकारी ही एक ऐसी पत्रिका है जिसमें जिज्ञासाओं का समाधान मिलता है।** मेरे प्रश्न-

(क) क्या ईश्वर पापों को क्षमा करता है? नहीं करता तो क्यों नहीं करता और यदि कर दे तो क्या हानि हो जायेगी?

(ख) ईश्वर हमारे कर्मों का फल तत्काल क्यों नहीं देता? यदि बाद में देरी से देता है तो मनुष्यों में कर्मफल के प्रति शंका, अविश्वास उत्पन्न होता है।

- राधामोहन, बाँस बरेली, उ.प्र.

समाधान-(क) ईश्वर पाप क्षमा नहीं करता, क्योंकि वह न्यायकारी है। यदि परमेश्वर किसी को दण्ड और किसी के पाप को क्षमा करे तो वह न्यायकारी न रहेगा। परमेश्वर का न्याय यही है कि जिसने जैसा कर्म किया है, उसको वैसा ही यथावत् फल देना। अपराध, पाप करने वाला चाहे ईश्वर को मानने, उसकी उपासना करने वाला हो या उसको न मानने, भक्ति न करने वाला हो। सभी के अपराध का दण्ड परमेश्वर यथावत् देता है।

इस विषय में महर्षि दयानन्द ने जो लिखा है, उसको हम ज्यों का त्यों यहाँ लिख रहे हैं-

"प्रश्न- ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है, वा नहीं? उत्तर- नहीं। क्योंकि जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाये और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये। जैसे राजा अपराधियों के अपराध को क्षमा कर दे तो वे उत्साहपूर्वक अधिक-अधिक बड़े-बड़े पाप करें, क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उनको भी भरोसा हो जाये कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे और जो अपराध नहीं करते, वे भी अपराध करने से न डरकर पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे। इसलिए सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।" (सत्यार्थप्रकाश सम्मुलास ७)

इस पूरे प्रसंग में महर्षि ने अत्युत्तम प्रकार से स्पष्ट कर दिया है कि ईश्वर पाप क्षमा नहीं करता, क्यों नहीं करता, इसका कारण भी बता दिया और क्षमा करने से क्या हानियाँ हैं, वह कथन भी कर दिया है।

पाप क्षमा करने वाली बात इन पुराणपन्थियों, मतवादियों ने चला रखी है। इनका कहना है जो कोई कितना भी पाप करे, पाप करने के पश्चात् नाम स्मरण, तीर्थ स्थान पर जाने, देवता के दर्शन करने, किसी नदी में स्नान करने आदि से पाप क्षमा हो जाते हैं। देखिये इनकी पोपलीला-

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति।
(ब्र.पु.अ. १७५. श्लो. ८२/पद्मपुराण उ.ख.अ. २३.२)

गंगा में स्नान करने की तो बात दूर रही, यदि सैकड़ों-सहस्रों कोश दूर से भी गंगा-गंगा कहे तो उसके सब पाप नष्ट होकर वह 'विष्णुलोक' अर्थात् वैकुण्ठ को जाता है। यह पोपों का कथन है। प्रथम तो वैकुण्ठ ही इनका काल्पनिक है और गंगा का नाम लेने मात्र से यदि पाप छूटते हैं तो **वर्तमान के सभी अपराधी जो कि कारागृह में हैं उनसे गंगा-गंगा कहलवाकर छोड़ देना चाहिए, क्योंकि इनके अनुसार गंगा कहने मात्र से पाप छूट जाते हैं तो अपराधी को कारागृह में रोककर दण्ड क्यों दिया जाये?** हे पुराण पन्थियो! घर में तुम माँ का अपमान करो और गंगा कह दो, पिता और गुरु का अपमान करो और गंगा कह दो, देशद्रोह करो और गंगा कह दो, गो हत्या करो और गंगा कह दो, तुम्हें तो पाप लगेगा नहीं।

तुम तो अविद्या के पुजारी हो, स्वयं पापी होकर अन्यों को पापी बनाओगे। यदि बचना है तो वेद मार्ग अपनाओ और वेदानुसार जान लो कि किया हुआ पाप क्षमा नहीं होता, चाहे गंगा कहो या गंगा में डूब मरो।

और इन पुराणपन्थियों की लीला देखिये-

प्रातः काले शिवं दृष्ट्वा निशिपापं विनश्यति।
आजन्मकृतं मध्याह्ने सायाह्ने सप्तजन्मनाम्।।

इसका अर्थ- जो मनुष्य प्रातःकाल में शिव अर्थात् लिङ्ग वा उसकी मूर्त्ति का दर्शन करे तो रात्रि में किया हुआ, मध्याह्न में दर्शन से जन्म भर का, सायंकाल में दर्शन करने से सात जन्मों का पाप छूट जाता है, यह दर्शन का महात्म्य है।

अब देखिये इनकी मूढ़ता कि जब एक बार दर्शन करने मात्र से जन्म

भर का पाप नष्ट हो गया तो रोज-रोज (नित्यप्रति) दर्शन की अब क्या आवश्यकता रह गई ? इनकी मान्यता अनुसार तो रात-दिन वा जन्म भर पाप करते रहो और शिव दर्शन कर लो, सब पाप नष्ट हो जायेंगे। इनको यह नहीं पता कि ऐसा विश्वास कर अधिक-अधिक पाप कर अपने इस लोक और परलोक दोनों का नाश करेंगे। इसलिए चेतो और जान लो कि किया हुआ पाप क्षमा नहीं होता, उसका तो फल भोगना ही होता है। दण्ड भय से पाप रुकते हैं और क्षमा की बात मानने से पाप बढ़ते हैं।

हे पुराण पन्थियो ! तुम्हारे ही पुराण में लिखा है-

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।।

- ब्रह्मवै.पु.प्र. ३७.१६

सैंकड़ों-करोड़ों कल्पों से किये कर्म बिना भोगे क्षीण नहीं होते। किये गये शुभ-अशुभ कर्मों को अवश्य भोगना ही पड़ता है।

जैसे पुराणपन्थी पाप क्षमा होने वाली बात कहते हैं, ऐसे ही आजकल के तथाकथित गुरु भी कहते हैं। उनका कथन गुरुशरण तक है। वे कहते हैं- हमारी शरण में आओ, हमसे नाम दान लो, पाप नष्ट हो जायेंगे। उनका यह कथन वेद विरुद्ध होने से मान्य नहीं है। यथार्थ में सच्चा गुरु ऐसी बात कभी नहीं कहेगा कि तुम्हारे पाप बिना भोगे नष्ट हो जायेंगे।

इसलिए एक बार पुनः कहते हैं- ईश्वर पाप क्षमा नहीं करता, उनका यथावत् दण्ड रूप फल देता है।

(ख) कुछ कर्मों का फल हमें तत्काल मिलता है, कुछ का इस जन्म में और कुछ का अन्य जन्मों में। यह ईश्वरीय व्यवस्था न्याय संगत व युक्तियुक्त है। हमने भोजन किया पानी पिया, इसका फल हमें उसी समय मिलता है, हमारी भूख-प्यास की निवृत्ति हो जाती है। हम ऊपर से गिरे, हमें चोटें आयीं, फल उसी

समय मिल गया। हम व्यायाम करते हैं। हमें उसका फल महीने दो महीने में दिखने लगता है। ऐसे ही कुछ अन्य कर्म भी हैं, जिनका फल हमें उसी समय वा कुछ काल बाद मिलता है, मिलने लगता है। अब ये कहें कि कर्मों का फल परमेश्वर तत्काल क्यों नहीं देता, उचित नहीं। हाँ, जिन कर्मों का फल परमेश्वर को तत्काल देना है, उनका फल तत्काल देता है, सभी कर्मों का नहीं। सभी कर्मों का फल तत्काल मिल ही नहीं सकता। जैसे कोई औषधी खाने के छः महीने बाद प्रभाव करती है और कोई खाते ही प्रभाव करती है। ऐसे ही कुछ कर्मों का फल तत्काल और कुछ कर्मों का फल उनका समय आने पर। सभी कर्मों का तत्काल फल देने पर परमेश्वर की न्यायकारिता भी नहीं रहेगी, क्योंकि जिन कर्मों के फलस्वरूप हमें मनुष्य शरीर मिला हुआ है, अभी उसको छुड़ा अन्य शरीर देना न्याय नहीं। पहले इस शरीर का भोग पूरा हो जाये, उसके बाद अन्य भोग देना उचित है। इसी में परमेश्वर की दया भी है कि कर्म करने वाले को अभी अवसर है, वह अपने जीवन को उत्कृष्ट बना लेवे, बना सके। यदि तत्काल फल दे दिया तो उसको श्रेष्ठ बनने का अवसर नहीं रहा।

जिन कर्मों का फल इस जन्म में भोग ही नहीं सकते, उन कर्मों का फल तत्काल परमेश्वर कैसे देवे? परमेश्वर सर्वज्ञ है, जब जिस कर्म के फल देने का समय आता है, उसी समय फल देता है। वह कर्म चाहे तत्काल फल देने वाला हो वा इस जन्म अथवा अन्य जन्म में। फल तो परमेश्वर नियत समय पर ही देता है।

रही बात कर्मफल के प्रति शंका, अविश्वास वाली तो जिसको परमेश्वर की न्याय व्यवस्था समझ में नहीं आयी है, उसको तो ये हो ही सकते हैं, किन्तु जिसको कर्मफल सिद्धान्त ठीक-ठीक समझ आ गया है, उसको इसके प्रति शंका, अविश्वास कदापि नहीं हो सकता। इसलिए कर्मफल सिद्धान्त को समझें और शंका अविश्वास से दूर रहें।

जिज्ञासा ९- ऐसा वेदों में, प्रवचनों में, सत्संग इत्यादि में सुना है, पढ़ा है कि ईश्वर की बनाई कोई भी वस्तु, जीव, तत्त्व बेकार नहीं होता है और वह समाज प्रकृति अथवा जीव मात्र के लिए किसी न किसी दृष्टि से उपयोगी होता ही है।

इस सम्बन्ध में एक शंका उत्पन्न हुई है कि स्त्री एवं पुरुष के अलावा जो नपुंसक जाति है, जिन्हें कई नामों से पुकारा जाता है एवं प्रचलित शब्दों में इन्हें किन्नर या हिजड़ा बोला जाता है, उनका समाज हित में क्या उपयोग हो सकता है जो कि अभी तक समाज ने नहीं पहचाना है या इस समाज ने उनकी वास्तविक उपयोगिता अभी तक आँकी ही नहीं है। इस समय ये प्रजातियाँ केवल नाच-गान इत्यादि करके अपना जीवन यापन कर रही हैं अथवा कुछ बेहूदा हरकतें करके समाज में डर पैदा करती हैं और यहाँ तक कहा जाता है कि इनकी बद्दुआएँ मत लो, बहुत बुरा होता है। जो जीव खुद ही किसी बद्दुआ का मारा हो तो उसकी बद्दुआ किसी और को क्या लग सकती है? यह बात तो एक बार समझ में आती है कि इन्हें जरूर किसी पिछले बुरे कर्म की सजा मिली होगी, लेकिन उसकी सजा में दया भी अवश्य होती है। यदि यह और स्पष्ट हो कि वेदों के अनुसार इनकी क्या उपयोगिता समाज अथवा प्रकृति के लिए हो सकती थी, जिसे कि सही मायने में अभी तक पहचाना नहीं जा सका। क्या किसी भी काल में इनकी कोई उपयोगिता रही है? आशा है आप प्रश्न का भाव समझ गए होंगे। कृपया, शंका समाधान करें।

- सुनील कुमार अरोड़ा, ५६/२२, रजत पथ, मानसरोवर, जयपुर-३०२०२० (राज.)

समाधान- हाँ, आपने ठीक पढ़ा-सुना है कि परमेश्वर का कोई भी कार्य व्यर्थ नहीं होता, किसी न किसी दृष्टि से उपयोगी ही होता है। रही बात मनुष्यों में नपुंसक स्त्री-पुरुषों की, **तो ये सन्तान उत्पत्ति को**

छोड़कर वे सब काम कर सकते हैं जो काम एक साधारण मनुष्य करता है। परमेश्वर ने इनको भी अपनी उन्नति करने की उतनी ही स्वतन्त्रता दे रखी है, जितनी की अन्य मनुष्यों को। ये भी डॉक्टर, इंजीनियर, जज, वकील, प्रबन्धक, अध्यापक, विद्वान्, साधक, योगी, समाधिस्थ बन मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं, यह क्षमता इनमें भी है।

वर्तमान में जो अवस्था इनकी देखी जा रही है, उस अवस्था के वे अकेले दोषी नहीं हैं, इनके साथ-साथ समाज भी दोषी है कि उनको अपने से पृथक् कर एक वर्ग विशेष में रख दिया। समाज ने इनको वह सम्मान न दिया, वह व्यवहार न किया जो एक मनुष्य को देना चाहिए, करना चाहिए। इनको हीन दृष्टि से देखकर हेय कर दिया। यदि आज भी समाज इनके प्रति आत्मीयता का भाव रखकर प्रेम से बदलना चाहें तो ये बदल सकते हैं। ये भी नाच-गान एवं विपरीत चेष्टाएँ छोड़कर अपनी आजीविका सभ्यता पूर्वक कर सकते हैं। इनमें सभी विपरीत चेष्टाएँ करने वाले नहीं होते, कुछ अच्छे भी होते हैं। देखने में आता है कि ये भी साधु-संन्यासियों के प्रति आदर-सत्कार का भाव रखते हैं, उनके सामने विपरीत चेष्टायें आदि भी नहीं करते।

हाँ, यह अवश्य है कि ये इनके बुरे कर्मों का फल है जो इनको ऐसी अवस्था प्राप्त हुई है। इस अवस्था में भी इनके ऊपर परमेश्वर की पूरी दया है कि इनको मनुष्य शरीर मिला है। ये इस शरीर को पाकर अधिक श्रेष्ठ कर्म कर, ज्ञान को प्राप्त कर, इससे श्रेष्ठ शरीर को प्राप्त कर सकते हैं। वैदिक मान्यता अनुसार इनकी उपयोगिता जैसी ऊपर कही गयी है, वैसी हो सकती है। यदि इनके विषय में ध्यान दिया जाये तो प्रकृति के लिए जैसे अन्य शरीरधारियों की उपयोगिता है, वैसी इनकी भी उपयोगिता है। इतिहास ग्रन्थों से भी इनके विषय में ज्ञात होता है कि ये भी युद्धादि और राजकार्यों में भाग लेते थे। ऐसा पहले था तो अब क्यों नहीं हो सकता?

सृष्टि विषय

जिज्ञासा १- (क) 'परोपकारी' अंक मार्च (द्वितीय) २०११ ई. में, पृ. २५ पर उल्लेखित श्री नन्दकिशोर एवं श्री उदयवीर सिंह की जिज्ञासाएँ, समाधान करते समय आपने अमैथुनी सृष्टि/उत्पत्ति बताते हुए केवल ईश्वरीय सर्वशक्तिमत्ता पर पूर्णतः आस्था बतायी है। आपने स्पष्टतः इन अनुमानों को अलग क्यों कर दिया, जो कुरान व बाइबिल में इनके हैं?

(ख) पौराणिक कथनों पर अविश्वास करने के सब वेद प्रमाणों सहित बताएँ कि सर्वप्रथम कौन पुरुष व महिला सृष्टि उत्पत्ति के समय हुए? कैसे, कहाँ, कौन-कौन (कितने-कितने) आये? ऐसा वर्णन वेदों में क्या कहीं भी नहीं है? सम्भावना आकाश से आने की क्षीण प्रायः क्यों है?

रमेश बंसल, ।।।/०६, बीसलपुर प्रोजेक्ट कॉलोनी, टोंक रोड, देवली-३०४८०४ (राज.)

समाधान- (क) अमैथुनी सृष्टि निश्चित रूप से ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर ही आधारित है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य सम्भावना नहीं दिख रही। आप कुरान व बाइबिल की बातों को भी पुष्ट करवाना चाहते हैं। आपकी बात से ऐसा प्रतीत होता है कि आपको कुरान व बाइबिल के विषय में ठीक से ज्ञात नहीं है, यदि होता तो ऐसा न कहते। देखिये, कुरान व बाइबिल भी सृष्टि उत्पत्ति करने में ईश्वर को ही सर्वोपरि मानते हैं, किन्तु कुरान व बाइबिल में जो सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन है वह युक्ति, तर्क व वेद विरुद्ध होने से अमान्य है। कुरान, बाइबिल, तौरेत आदि ग्रन्थों में एक जैसी मान्यता है कि इस धरती पर मानवोत्पत्ति आदम और उसकी पत्नी हव्वा के रूप में हुई थी। तौरेत उ.प. २ आ. ७-९ में आदम को धूल से उत्पन्न हुआ लिखा है और तौ.उ.पं. २/आ.२१,२२ में हव्वा की उत्पत्ति आदम की एक पसली से हुई। इन दोनों से आगे मानव सृष्टि चली, ऐसी कुरान, बाइबिल की मान्यता है। इनकी ये बातें विचारणीय हैं। इनके अनुसार तो सृष्टि का प्रारम्भ

ही अनाचार से हुआ, क्योंकि एक आदम और हव्वा से जो लड़के-लड़कियाँ हुईं, उन्होंने आगे चल कर आपस में संयुक्त हो सन्तान उत्पन्न की, ये अनाचार हुआ, क्योंकि भाई-बहन का संयुक्त होना अनाचार ही है। इसलिए जो वैदिक रीति है कि ईश्वरीय सर्वशक्तिमत्ता से अमैथुनी सृष्टि में सहस्रों नर-नारी उत्पन्न हुए और उनसे मानव सृष्टि चली। आज भी इस पृथिवी पर मनुष्यों में भिन्न-भिन्न प्रजातियाँ मिल रही हैं, उससे भी ज्ञात होता है कि इनकी आदि उत्पत्ति एक जोड़े से न होकर अनेक जोड़ों से हुई, इसको आज का विज्ञान भी स्वीकार करता है।

हव्वा की उत्पत्ति वाली बात भी मात्र कल्पना है कि उसको आदम की एक पसली से बनाया। हव्वा को आदम की एक पसली से बनाने की क्या आवश्यकता थी, जैसे आदम को बनाया वैसे इसको भी बना देता, क्योंकि ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है और **यदि एक पसली से बनाया ही था तो आज सभी स्त्रियाँ एक पसली वाली क्यों नहीं?** ऐसी-ऐसी कुरान व बाइबिल की बातें मात्र कल्पना ही है, इसलिए इनके अनुमानों को पृथक् कर ईश्वरीय सर्वशक्तिमत्ता पर पूर्णतः आस्था दिखाई है।

और भी स्वामी विद्यानन्द जी के सत्यार्थ भास्कर से लिखते हैं- "पुरुष के वीर्य का स्त्री के गर्भाशय में रज के साथ ठहर जाने से गर्भ उत्पन्न होता है, यदि कोई पदार्थ वेत्ता उन तत्त्वों को पूरी तरह जान ले, जो वीर्य में हैं तो वह स्वतन्त्र रूप से वीर्य बना सकता है। उस अवस्था में पुरुष के वीर्य की आवश्यकता न रहेगी। ...... परन्तु कोई भी मनुष्य पूर्ण ज्ञानी न होने से ऐसा नहीं कर सकता। हाँ सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं है।" यही मान्यता युक्तियुक्त है। सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने आदि सृष्टि में पृथिवी के गर्भ में प्राणियों की संरचना कर उत्पन्न किया।

(ख) पौराणिक कथनों पर अविश्वास इसलिए कि इनके सृष्टि

उत्पत्ति विषयक परस्पर विरोधी कथन मिथ्या प्रलाप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इनके मिथ्या प्रलापों का कुछ दिग्दर्शन कराते हैं- शिव पुराण में सृष्टि रचना विषय में लिखा है- शिव ने एक जलाशय बनाया, जलाशय में से एक कमल उत्पन्न हुआ, उस कमल में से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा ने जल में से अञ्जली भर कर पटकी तो उससे एक बुदबुदा उठा, उससे एक पुरुष (विष्णु) उत्पन्न हुआ। इस पुरुष ने ब्रह्मा से कहा कि हे पुत्र! सृष्टि उत्पन्न कर। इस पर ब्रह्मा ने कहा कि मैं तेरा पुत्र नहीं, तू मेरा पुत्र है। दोनों एक दूसरे को पुत्र कहने लगे तो इसी बात पर युद्ध छिड़ गया।.... महादेव ने जैसे-तैसे युद्ध बन्द करवाया और अपनी जटाओं में से भस्म का एक गोला निकाल कर दिया और कहा कि इसमें से सृष्टि बनाओ। दोनों ने राख का गोला लिया और सृष्टि रच दी। अस्तु। यह कपोल कल्पना शिवपुराण में लिखी है, भला इसको कौन बुद्धिमान् मनुष्य मानेगा कि राख से मनुष्य आदि सृष्टि उत्पन्न होती है? **यदि राख से सृष्टि उत्पन्न हुई है तो महादेव का शरीर किससे बना? महादेव ने जलाशय किससे उत्पन्न किया? जल के आधार को कैसे बनाया आदि-आदि** अनेक प्रश्न उत्पन्न होंगे, जिनके उत्तर इन पुराणवादियों के पास नहीं हैं।

अब भागवत पुराण की पोपलीला देखिये, कैसी विचित्र है! भागवत पुराण के तृतीय स्कन्द में सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन है, उसमें लिखा है कि विष्णु की नाभि से कमल, कमल से ब्रह्मा, उस ब्रह्मा के दाहिने पग के अँगूठे से स्वायंभुव और बाँये अँगूठे से शतरूपा रानी उत्पन्न हुई। ब्रह्मा के ललाट से रुद्र और मरीचि आदि दश पुत्र, उनसे दक्ष प्रजापति की उत्पत्ति हुई। दक्ष की तेरह लड़कियों का विवाह कश्यप से हुआ। उनमें से दिति से दैत्य, दनु से दानव..... वनिता से पक्षी, कद्रू से सर्प, सरमा से कुत्ते, स्याल आदि उत्पन्न हुए और अन्य स्त्रियों से हाथी, घोड़े, ऊँट, गधा, भैंसा, घास-फूस, वृक्षादि उत्पन्न हुए।

इन सब बातों से ज्ञात होता है कि पुराणों में सृष्टि उत्पत्ति विषयक कथन बिना सोचे-विचारे ही लिखा गया है। कोई भी विचारशील व्यक्ति इन बातों को स्वीकार नहीं कर सकता कि स्त्रियों से हाथी, घोड़े, गधे, वृक्षादि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के कथन बुद्धि के दिवालियेपन का लक्षण है, इसलिए पुराणों के कथन सर्वथा अविश्वास करने योग्य हैं और इस विषय में वेद और ऋषियों के कथन सर्वथा विश्वास के योग्य हैं।

सृष्टि उत्पत्ति विषयक मन्त्र वेद में अनेक हैं, जो विज्ञान को मान्य हैं। इसके लिए मुख्यरूप से ऋग्वेद का नासदीय सूक्त और यजुर्वेद का ३१वाँ पुरुषाध्याय द्रष्टव्य हैं। विस्तार भय से उन मन्त्रों को हम यहाँ नहीं लिख रहे।

सर्वप्रथम कौन स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए- इसको बताने में हम असमर्थ हैं, इसका पता न लग पाया। किसी को ज्ञात हो तो अवश्य अवगत करायें। वैसे भी हम अपने ही दस-पन्द्रह पीढ़ी पूर्व के लोगों का नाम आदि नहीं जान पाते (जिनका सत्य इतिहास मिलता है, उनको छोड़कर) तो लगभग १९६ करोड़ वर्ष पूर्व के लोगों का नाम आदि कैसे जानेंगे? आपने पूछा है उत्पन्न कैसे हुए? इसका उत्तर जिज्ञासा-समाधान १ में दिया जा चुका है। आप जानना चाहते हैं कि कहाँ उत्पन्न हुए? तो इसका उत्तर महर्षि दयानन्द के अनुसार त्रिविष्टप=तिब्बत क्षेत्र में उत्पन्न हुए, क्योंकि यही क्षेत्र सबसे ऊँचा और मानवोत्पत्ति के सर्वथा अनुकूल था। आज भी अनेक पाश्चात्य व भारतीय विद्वान् मानवोत्पत्ति का स्थान हिमालय को ही मानते हैं। कितने आये इसका उत्तर दे चुके कि युक्ति से ज्ञात होता है कि अनेक आये (उत्पन्न हुए)। इनके आकाश से आने की सम्भावना क्षीण प्रायः इसलिए है, क्योंकि इस पृथिवी पर रहने वाले शरीरों का उपादान कारण पृथिवी तत्त्व है, इसलिए यहाँ के शरीर पार्थिव हैं। पार्थिव होने के कारण सृष्टि के आरम्भ में इनका पृथिवी से उत्पन्न होना युक्तियुक्त है।

जिज्ञासा २- आर्यसमाज, राजेन्द्रनगर, दिल्ली-६० के मंच से एक विद्वान् पुरोहित ने सृष्टि प्रारम्भ तिथि परम्परागत मान्यतानुसार चैत्र शुक्ल प्रतिपदा बताया, किन्तु इस पर गणित ज्योतिष के जिक्र के अतिरिक्त कोई अन्य वैदिक या शास्त्रीय प्रमाण नहीं दिया और साथ ही वर्तमान नवरात्रि पर्व जो पौराणिकों द्वारा विशेष रूप से मनाया जाता है, उसे भी वैदिक परम्परा से जोड़ दिया। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी इस उक्त तिथि का जिक्र मुझे नहीं मिला। इस पर मेरी जिज्ञासा है-

मनुष्योत्पत्ति से पूर्व विज्ञान कहता है कि प्रथम जड़ सृष्टि जैसे ब्रह्माण्ड के पिण्डों का निर्माण हुआ। फिर पृथ्वी इस लायक बनायी गयी, जिस पर जीव-जन्तु और मनुष्य रह सके। इस सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया क्रमशः उत्तरोत्तर काल में सम्पन्न हुई। इनमें से किसका कार्य प्रथम प्रारम्भ किया गया? क्या इसका प्रमाण होते ही प्रकृति के मूल-तत्त्व में प्रकम्पन से या फिर पृथ्वी या पशु-पक्षी या फिर मनुष्योत्पत्ति काल से इस तिथि को जोड़ा जाय? क्रमशः निर्माण प्रक्रिया का ज्ञान होता है। ज्योतिष के हिमाद्रि ग्रन्थ में लिखा है- चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि...। इससे भी यह स्पष्ट नहीं होता है कि किस जगत्, जड़ या चेतन जगत् की रचना उक्त तिथि पर प्रारम्भ हुई? कृपया, स्पष्ट करें।

- डॉ. एल.पी. शास्त्री, ई-१५, एम.आई.जी. फ्लैट, प्रसाद नगर-।।, नई दिल्ली-५

समाधान - सृष्टि प्रारम्भ का काल चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से माना जाता है। यह काल सृष्टि के सम्पूर्ण रूप से प्रकाश में आने के बाद अर्थात् मनुष्य उत्पत्ति के बाद माना जाना चाहिए, यही युक्ति से व प्रमाण से ज्ञात हो रहा है। युक्ति तो यह है कि काल गणना मनुष्य से ही सम्भव है। मनुष्य जब उत्पन्न हुआ तब से काल गणना भी प्रारम्भ हुई। जैसे अब वर्त्तमान में वर्ष का आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से मानते हैं, वैसे ही सृष्टि का प्रथम वर्ष भी

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से मानना चाहिए। इसमें हमें जो शास्त्र प्रमाण मिले हैं, वे हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। (सृष्टि उत्पत्ति चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से)

१. लंकानगर्यामुदयाच्च भानोस्तस्यैव वारं प्रथमं बभूव।
मधोः सितोदेर्दिनमासवर्षयुगादिकानां युगपत्प्रवृत्तिः।।

सिद्धान्त शिरोमणि. मध्य. १५

अर्थात् लंका नगरी में सूर्य उदय होने पर उसी के वार अर्थात् आदित्यवार में चैत्र मास शुक्ल पक्ष के आरम्भ में दिन, मास, वर्ष, युग आदि आरम्भ हुए। इसी आशय को लेकर अन्य श्लोक भी हैं–

२. चैत्रासितादेरुदयाद् भानोर्दिनमासवर्षयुगकतयाः।
सृष्ट्यादौ लंकायां समं प्रवृत्ता दिनेऽर्कस्थ।।

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त अ. १

३. मधुसितप्रतिपद्दिवासादितो रविदिने दिनमासयुगादयः।
दशसिरः पुरि सूर्यसमुद्गमत् सममभी भवसृष्टिमुखेऽभवन्।।

सिद्धान्त शेखर अ. १ श्लो. १०

४. चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि।
शुक्लपक्षे समग्रन्तु तदा सूर्योदये सति।।

हिमाद्रि ग्रन्थ

इसी आशय से युक्त श्लोक विष्णुधर्मोत्तर पुराण–ब्रह्मसिद्धान्त में भी है–

५. लंकायामर्कोदये चैत्रशुक्लप्रतिपदारम्भेऽर्कदिनादा–
वश्विन्यादौ किंस्तुघ्नादौ रोद्रादौ कालवृत्तिः।।

इन श्लोकों में लंका नगरी का कथन आया है, इसका आशय हम भी नहीं समझ पाये, किन्तु यह अवश्य स्पष्ट हो रहा है कि सृष्टि का प्रारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से हुआ है। यह मानवोत्पत्ति से लेना चाहिए, परम्परा से ऐसा ही चला आ रहा है।

जिज्ञासा ३ – महर्षि दयानन्द ने जो सृष्टि उत्पत्ति का काल १ अरब ९६ करोड़ वर्ष पूर्व बताया है, उन्होंने इस अवधि का निर्धारण किस आधार पर किया है?

– प्रो. अरविन्द विग

समाधान – महर्षि दयानन्द का सृष्टि उत्पत्ति काल गणना का आधार उस समय के पंचांग, सूर्य सिद्धान्त आदि ग्रन्थ और श्रुति परम्परा है। महर्षि ने इस बात को ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति विषय में अच्छी तरह स्पष्ट किया है।

जिज्ञासा ४ – (क) इस सृष्टि की उत्पत्ति हुए १,९६,०८,५३,११५ वर्ष हो गये हैं, लेकिन 'मानव' की उत्पत्ति हुए कितने वर्ष हुए हैं?

(ख) मानव की उत्पत्ति के पूर्व पशु, पक्षी, जलचर, वनस्पति, खाद्य पदार्थों आदि की उत्पत्ति हो गई थी या नहीं? अर्थात् इनकी उत्पत्ति कब हुई?

–मानवता, १९४, तीसरी मंजिल, पार्श्वनार्थ नगर, सांगानेर अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा, जयपुर

समाधान (क)– इस विषय में आर्यजगत् की पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर लेख आते रहे हैं, आते रहते हैं। यह जो समय है वह वेदोत्पत्ति व मानवोत्पत्ति का ही है। मानव सृष्टि की उत्पत्ति को महर्षि ने सृष्टि उत्पत्ति कहा है और यही काल वेदोत्पत्ति का है। वेद की आवश्यकता मनुष्य के लिए है, पशु, पक्षी या जड़ जगत् के लिए नहीं। ब्रह्मदिन का आरम्भ तो उसी दिन हो जाता है, जबसे परमाणुओं का संयोग विशेष प्रारम्भ होता है, किन्तु व्यावहारिक सम्वत् मानवोत्पत्ति से आरम्भ होता है। सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया आरम्भ होने के पश्चात् मानवोत्पत्ति होने तक पर्याप्त समय लगा होगा। सृष्टि रचना का वर्णन करते हुए महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ९ में लिखा है, "परमसूक्ष्म तत्त्वों का प्रथम ही जो

संयोगारम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को, **सूक्ष्म से स्थूल-स्थूल बनते-बनते विचित्र रूप बनी है।** इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहलाती है।'' 'बनते-बनते बनी' इन शब्दों से स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द के मत में यह विराट, विचित्र तथा वैविध्यपूर्ण सृष्टि मुसलमानों के अनुसार **'कुन' (होजा) शब्द का उच्चारण होते ही पलभर में बनकर खड़ी नहीं हुई।**

जैवी सृष्टि से पूर्व जीव के लिए अपेक्षित सामग्री का होना आवश्यक था। महर्षि ने इसका संकेत सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ९ में किया है, "मनुष्य की सृष्टि पहले हुई या पृथिवी आदि की?" इस प्रश्न के उत्तर में ऋषिवर लिखते हैं- "पृथिवी आदि की, क्योंकि पृथिवी आदि के बिना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता।" जबसे मनुष्य उत्पत्ति हुई है, तभी से कालगणना का आरम्भ हुआ है। मनुष्य के बिना अन्य कोई प्राणी काल गणना नहीं कर सकता, इसलिए यह १, ९६,०८,५३,११५ वर्ष वाली कालगणना मानव सृष्टि उत्पत्ति व वेद उत्पत्ति की है।

इस सन्दर्भ में महर्षि ने लिखा कि "सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन-दिन गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणितविद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं अर्थात् परम्परा से सुनते-सुनाते, लिखते-लिखाते और पढ़ते-पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं।"

(ख) मानव की उत्पति से पहले पशु, पक्षी, जलचर, वनस्पति, खाद्य पदार्थ आदि उत्पन्न हो गये थे, क्योंकि इनके बिना मानव जीवन चलना असम्भव है, इसलिए ये सब मानव उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न हो गये थे। मानव उत्पत्ति को सृष्टि रचना की सबसे बाद की रचना कह सकते हैं। प्राणी के प्रादुर्भाव से पूर्व इस धरती पर वायु, जल, लता, औषधी, वनस्पति, फल-मूल आदि खाद्य पदार्थ तथा सूर्य, चन्द्रमा अन्य आवश्यक साधन उपलब्ध थे। इनके बिना प्राणी मात्र का धरती पर रहना सम्भव न था। यजु.

३१.६ के अनुसार:-

सम्भृतं पृषदाज्यम्।

पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।

अर्थात् परमेश्वर ने पहले दध्यादि भोग्य पदार्थों तथा वायु में गमन करने वाले पक्षियों, सिंह-व्याघ्रादि वनैले पशुओं और नगरों तथा गाँवों में रहने वाले गाय, घोड़े आदि पशुओं को उत्पन्न किया। इस प्रकार जड़ जगत् की रचना पूर्ण होने पर चेतन जगत् की और चेतन जगत् में भी क्रमशः सृष्टि हुई। सबके अन्त में मानव उत्पत्ति हुई। इस प्रकार पशु-पक्षी आदि की उत्पत्ति, सृष्टि रचना के प्रथम परमाणु के संयोगारम्भ से लेकर मानवोत्पत्ति के बीच का जो काल है, उसमें हुई।

जिज्ञासा ५ - सृष्टिकाल को जानने में विशेष अवसरों पर जो ऋत्विग् वरण होता है या होता आ रहा है, वह होना चाहिये या नहीं? और उसे प्रमाण मानकर सृष्टिकाल को भी मानना चाहिये कि नहीं?

संकल्प में ब्रह्मदिन के द्वितीय प्रहरार्ध, मन्वन्तर, कल्प, युग और मास तिथि आदि का उच्चारण कराया जाता है और इस उच्चारण करवाने में जो वर्तमान होता है-उसे ही कहा जाता है अर्थात् चार प्रहर में ब्रह्मा के द्वितीय प्रहर के आधा, १४ मन्वन्तरों में वैवस्वत मन्वन्तर युगों में कलियुग इत्यादि..। साथ ही कुछ लोग संकल्प करते समय श्वेत वाराह कल्पे भी कहलाते हैं। यह मुझे आपसे जानना था कि सृष्टि में कल्प कितने होते हैं? और श्वेत वाराह कल्प क्या है?

स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने तो संस्कार विधि में केवल इतना ही लिखा

यजमानोक्ति ओमावसोः सदने सीद, ऋत्विगुक्तिः -ओं सीदामि,

यजमानोक्तिः-अहमद्योक्तकर्मकरणाय भवन्तं वृणे,

ऋत्विगुक्तिः-ओं वृतोऽस्मि।

किन्तु बहुत लोग वैवस्वत मन्वन्तरे, कलि प्रथम चरणे, श्वेत वाराह कल्प-आर्यावर्तैकदेशे-तिथौ-मासे आदि यजमान से बुलवाते हैं। १. क्या संस्कार विधि में जितना लिखा है, उतना ही उच्चारण करवाना चाहिये या अन्य भी? तब हमें जिज्ञासा होती है कि कल्प कितने होते हैं जो वर्तमान में श्वेत वाराह कल्प के नाम से चल रहे हैं?

कृपया, मेरी जिज्ञासा का समाधान करके अनुगृहीत करें। **-पं. विभुमित्र शास्त्री, 'विद्यामार्तण्ड', सरस्वती सदन, ग्रा. व पो.-चोरसुआ, पावापुरी, जिला-नालन्दा।**

समाधान- पत्र के माध्यम से आपने संकल्प पाठ के विषय में कई प्रश्न किये हैं। उनका उत्तर क्रमशः संक्षेप से लिखते हैं।

प्रश्न-...........ऋत्विग् वरण होता है या होता आ रहा है, वह होना चाहिए या नहीं?

उत्तर-होना चाहिए, क्योंकि यह शास्त्र सम्मत है।

प्रश्न-उसे प्रमाण मानकर सृष्टिकाल को भी मानना चाहिए कि नहीं?

उत्तर-संकल्प पाठ को प्रमाण मानकर सृष्टिकाल को मानना चाहिए, क्योंकि इसे महर्षि दयानन्द जी ने भी माना है और परम्परा से चला आ रहा है।

प्रश्न-संकल्प पाठ कराते समय 'श्वेत वाराह कल्पे' भी कहवाते हैं। ....सृष्टि में कितने कल्प हैं? श्वेत वाराह कल्प करवाना ठीक है कि नहीं? श्वेत वाराह कल्प क्या है?

उत्तर-सम्पूर्ण सृष्टि को ही कल्प कहते हैं, इसलिए सृष्टि में कितने कल्प होते हैं, यह कहना तो बनेगा नहीं। पौराणिकों ने ३० कल्पों के नामों की कल्पना कर रखी। यह कल्पना कैसे की है यह ज्ञात नहीं है। जैसे ३० दिनों का एक महीना है, उस महीने के दो पक्ष हैं और उसमें सात दिनों के नाम हैं, वे सात दिन बार-बार आते रहते हैं। उसी प्रकार पौराणिकों ने ३०

कल्पों (सृष्टियों) का एक महीना माना है, उनके दो पक्ष माने हैं और ३० कल्पों के नाम भी पृथक्-पृथक् रखे हैं।

वे नाम हैं-१. श्वेत वाराह कल्प, २. नील लोहित कल्प, ३. वामदेव कल्प ४. रथन्तर कल्प, ५. रौरव कल्प, ६. प्राण कल्प, ७. बृहत् कल्प, ८. कन्दर्प कल्प, ९. सत्य कल्प, १०. ईशान कल्प, ११. व्यान कल्प, १२. सारस्वत कल्प, १३. उदान कल्प, १४. गारुड़ कल्प, १५. कौर्म कल्प (पूर्णिमा), १६. नारसिंह कल्प, १७. समान कल्प, १८. आग्नेय कल्प, १९. सोमकल्प, २०. मानव कल्प, २१. पुमान् कल्प, २२. वैकुण्ठ कल्प, २३. लक्ष्मी कल्प, २४. सावित्री कल्प, २५. घोर कल्प, २६. वराह कल्प, २७. वैराज कल्प, २८. गौरी कल्प, २९. माहेश्वर कल्प, ३०. पितृकल्प (अमावस्या)।

श्वेत वाराह कल्प कराना ठीक प्रतीत नहीं होता। पौराणिकों के अनुसार श्वेत वाराह कल्प एक सृष्टि का नाम है।

स्वामी दयानन्द जी ने जो संस्कार विधि में 'आवसोः सदने सीद' आदि लिखा है, उसको करते हुए संकल्प पाठ करना उचित है, उसको करना चाहिए। इस विषय में कल्प विषयक जानकारी मान्य आचार्य आनन्द प्रकाश जी गुरुकुल अलियाबाद से प्राप्त हुई। इसके लिए आचार्य श्री का धन्यवाद। कल्प के लिए वाचस्पत्यम् शब्दकोष भी देखें।

जिस परमेश्वर ने समस्त गुण वाले जगत् को रचा है उन्हीं गुणों से प्रसिद्ध उसकी उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये।

-महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ५.३२

कर्मकाण्ड

जिज्ञासा १ - एक विद्वान् ने हवन कराते समय पञ्चमहायज्ञों की व्याख्या करते हुए कहा कि "स्तुति-प्रार्थना-उपासना मन्त्रों का पाठ जो हवन के आरम्भ में किया, वह 'ब्रह्मयज्ञ', बाकी का हवन 'देवयज्ञ' है।" क्या यह ठीक है ? कृपया, शंका का समाधान करें।

ज्ञान प्रकाश कुकरेजा, ७५६/५, अर्बन स्टेट, करनाल, हरियाणा

समाधान- महर्षि ने संस्कार विधि में पञ्च महायज्ञों में अग्निहोत्र देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ करने के बाद आचमन करके प्रारम्भ करने को लिखा है। वहाँ ये मन्त्र नहीं हैं, हो सकता है उस प्रकरण को लेकर उस विद्वान् ने ऐसा कहा हो। ऐसा कहने में कोई सैद्धान्तिक हानि भी नहीं दिख रही। हाँ, इससे ऐसा नहीं मानना चाहिए कि इन ८ मन्त्रों का पाठ ही ब्रह्मयज्ञ है, अपितु जो महर्षि ने सन्ध्योपासना के मन्त्र दिए हैं, वह ब्रह्मयज्ञ है। संध्योपासना के मन्त्रों के साथ ये ८ मन्त्र बोल कर इनके सहित किये गए यज्ञ को ब्रह्मयज्ञ कहा जा सकता है। संस्कार विशेष और प्रत्येक मांगलिक कार्य में ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करनी ही चाहिए, करनी होती है।

जिज्ञासा २ - मुझे परोपकारी पत्रिका वर्षों से मिल रही है। मैं परोपकारिणी सभा का आभारी हूँ। विद्वद्-गोष्ठी का कार्य सराहनीय है। कर्मकाण्ड में एकरूपता लाने के लिए सराहनीय कार्य हो रहा है। मुझे कुछ सन्देह हैं। कृपया, उन्हें दूर कीजिए। विवाह संस्कार में जो चार परिक्रमाएँ हैं, उनमें कौन आगे चलता है- वर या वधू ? कृपया, प्रमाण देकर बताइये। दूसरा प्रश्न है कि मॉरिशस में अन्त्येष्टि संस्कार के बाद मृतक के घर तीन दिन लगातार यज्ञ होता है, फिर दसवें दिन, चालीसवें दिन और एक वर्ष के बाद। कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि ये सारे कार्य मंगल कार्य नहीं

है, अतः अष्टाज्याहुति के मन्त्रों से आहुतियाँ नहीं देनी चाहिए। क्या है मंगल कार्य? क्या है अमंगल कार्य? स्पष्ट कीजिये।

पण्डित धर्मेन्द्र, रीचप, मॉरिशस

समाधान - विवाह संस्कार में जो चार परिक्रमाएँ हैं, उनमें वर ही आगे चलता है और वधू वर के पीछे चलती है। इस विषय में संस्कार विधि में स्पष्ट प्रमाण हैं-

(क) पाणिग्रहण के मन्त्रों के बाद महर्षि लिखते हैं, ''इन पाणिग्रहण के छः मन्त्रों को बोल के, पश्चात् वर, वधू की हस्ताञ्जली पकड़ के उठावे और उसको साथ लेके.....यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके..... ।'' यहाँ महर्षि के वचनों से स्पष्ट है कि वर, वधू की हस्ताञ्जली पकड़ कर उठाता है और उसको साथ ले (वधू को साथ ले) प्रदक्षिणा करता है, अर्थात् प्रदक्षिणा करते हुए वर आगे-आगे चलता है और वधू, वर के पीछे-पीछे चलती है।

(ख) लाजा होम के तीन मन्त्रों से धाणी की आहुति के बाद-**ओं सरस्वति प्रेदमव..... स्त्रीणामुत्तमं यशः।।** इस मन्त्र के बाद संस्कार विधि में लिखा है, ''इन मन्त्रों को बोल के अपने जमणे हाथ की हस्ताञ्जली से वधू की हस्ताञ्जली पकड़ के, वर-**ओं तुभ्यमग्रे...... अग्ने प्रजया सह।।१।। ओं कन्यला पितृभ्य..... इवातिगाहेमहि द्विषः।।२।।** इन मन्त्रों को पढ़ यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर के.... ।'' यहाँ भी वर, वधू की हस्ताञ्जली पकड़ कर दो मन्त्र बोल प्रदक्षिणा करता है और वधू पीछे रहती हुई चलती है।

वैदिक विवाह संस्कार में तो प्रदक्षिणा करते हुए सर्वत्र वर ही आगे रहता है। पौराणिक संस्कार कराते हुए वधू को भी आगे रख प्रदक्षिणा कराते हैं।

२. अन्त्येष्टि संस्कार के बाद मृतक के घर तीन दिन लगातार यज्ञ होता है और बाद में भी दिन विशेष में यज्ञ करते हैं- यह बात अच्छी है। आपका

कहना है कि वहाँ (मॉरिशस में) कुछ लोगों की धारणा है कि इस प्रकार के यज्ञ इन दिनों में करना-कराना मंगल कार्य नहीं है, इसलिए अष्टाज्याहुति के मन्त्रों से आहुति नहीं देनी चाहिए। अब यहाँ विचार करें कि वह दिन मंगलकारी नहीं है या यज्ञकर्म मंगल कार्य नहीं है? परमेश्वर के बनाये सब दिन ही एक जैसे हैं, दिनों में अपनी मंगलता-अमंगलता कुछ भी नहीं है, इसलिए किसी दिन विशेष को मंगल या अमंगल कहना ठीक नहीं। अब यज्ञकर्म देखें तो पता चलता है कि यज्ञकर्म तो मंगल कार्य ही है, वह अमंगल कभी होता ही नहीं है। जब ऐसी बात है तो इसको अमंगल कार्य मान अष्टाज्याहुति के मन्त्रों से आहुति न देना ठीक नहीं है। यज्ञ में ईश्वर स्तुति-प्रार्थना-उपासना से लेकर यज्ञ की पूर्ण आहुति तक सभी मन्त्र मंगलकारी ही हैं, अर्थात् विशेष अर्थ उन मन्त्रों के हैं, जिनसे हमारा जीवन कल्याण की ओर अग्रसर होता है। जब यज्ञ कर्म मंगल कार्य ही है, तब उसको अमंगल कहकर अष्टाज्याहुति मन्त्रों से आहुति न देना उचित नहीं है और आपके अनुसार यह धारणा भी कुछ लोगों की है जो गलत हो सकती है। हाँ, जहाँ महर्षि ने जिन संस्कार विशेषों में इन मन्त्रों का विधान नहीं किया, वहाँ इनसे आहुति नहीं देनी चाहिए।

जिज्ञासा ३- बचपन से हमारा सम्बन्ध आर्यसमाज से रहा है। अभी भी है। महर्षि दयानन्द के भक्त हैं। उनका वेद, उनके ग्रन्थ, आर्यसमाज और यज्ञ-हवन से जुड़े हुए हैं। स्मरण आता है- पण्डित जी के अलावा यजमान लोग भी धोती-कुर्ता पहनकर ही यज्ञ में आहुति देते थे। जो धोती पहनकर आ नहीं सकता था, वह कागज में धोती लपेट कर लाता था और बैठक के एक कोने में धोती धारण कर लेता था। बिना धोती के कोई हवन में नहीं बैठता था, मगर वर्तमान में नवयुवक समाजीजन धोती-कुर्ता पहनने से कुछ कतराते हैं। पतलून-कमीज धारण करके ही बैठ जाते हैं। ज्यादा से ज्यादा कुर्ता धारण कर लेते हैं, जैसे कि भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में

यजमानों के यज्ञ में भाग लेते हुए चित्र छपते हैं। महिलाओं को तो कुछ कहना ही नहीं है। साड़ी में ही आती हैं और भाग लेती हैं। तो चित्रों में क्या देखते हैं कि यजमान गण कोट-पतलून और टाई लगाये बैठे हैं और आहुति देते हैं, यह कहाँ तक सही है? क्योंकि टाई तो क्रिश्चियनों के क्रॉस का प्रतीक है, यह पढ़ने को मिला है। यह कहाँ तक सही हो रहा है? यज्ञ का महत्त्व क्या रह गया है? कहाँ तक सही है यह? उसका समाधान आप देंगे। **- सोनालाल नेमधारी, कारोलिन, वेलप्रर, मॉरिशस**

समाधान - आप यज्ञ में कैसे वस्त्र धारण करें, यह जानना चाहते हैं। यज्ञ कर्म एक सात्विक कर्म है, सात्विक कर्म को करने के लिए वस्त्र भी सात्विक ही हों, यही उचित है। पहले यज्ञों (दक्षिण भारत में अब भी) में यजमान-पुरोहित आदि नीचे कटिवस्त्र अथवा धोती और ऊपर नाम मात्र उत्तरीय पहनते थे। बाद में धोती-कुर्ता पहनकर यजमान-पुरोहित यज्ञ करने लगे, जो स्वयं को व अन्यों को सुन्दर दिखता था, अब भी दिखता है। आपने भी वैसा देखा है, देखना चाहते हैं। आज भी बहुत सारे लोग ऐसा करके, करवाके यज्ञ करते हैं। वर्तमान में कुछ लोग कोट-पतलून-टाई पहन कर यज्ञ करते हैं, यजमान बन जाते हैं, यह आदर्श तो नहीं है, किन्तु यह पहनकर यज्ञ कर ही नहीं सकते, यह भी ठीक नहीं है। यदि कहीं यज्ञ हो रहा है और उसमें कोई व्यक्ति श्रद्धापूर्वक यजमान बनना चाहता है (यजमान बनने का अवसर है तब) और उसको यह कहकर दूर कर दिया जाये कि तुमने पैंट-शर्ट पहन रखा है, इसलिए तुमको यजमान नहीं बना सकते। इससे व्यक्ति सोच सकता है कि इनका यज्ञ कैसा है जो वस्त्रों से पूरा होता है? ऐसी हीन भावना लेकर वह व्यक्ति यज्ञ से ही दूर हो जाये। इस स्थिति में उसको यजमान बनाया जा सकता है और प्रेमपूर्वक बताया जा सकता है कि यज्ञ में वस्त्र इस-इस प्रकार के होते हैं। किसी कार्यक्रम में सभी लोग कोट-पतलून में हैं और वहाँ यज्ञ करना हो, क्या

वहाँ यह कहकर यज्ञ न करें कि यहाँ सब कोट-पतलून में हैं, इसलिए यजमान बनने योग्य कोई नहीं? वहाँ इतने मात्र से श्रेष्ठ यज्ञकर्म नहीं छोड़ा जाता, न ही छोड़ना चाहिए। शीत प्रधान देशों में इस प्रकार के वस्त्र पहनने पड़ते हैं, जहाँ शून्य से भी नीचे तापमान रहता है।

यज्ञ (अग्निहोत्र) का सम्बन्ध मुख्य रूप से घृत और होम के योग्य अन्य उचित सामग्री, सम्बन्धित मन्त्र बोलकर क्रिया करने आदि से है। यज्ञ का प्रयोजन भी महर्षि दयानन्द के अनुसार वृष्टि जल और वायु की शुद्धि करना है, जिससे रोग न होकर प्राणियों में सुख की वृद्धि होवे। वे लिखते हैं, "यज्ञ से जो भाप उठता है, वह भी वायु और वृष्टि जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुखी करता है।" ऋ.भा.भू.। महर्षि ने तो इस बात को मुख्य रखकर यहाँ तक कह दिया "**यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्कर्त्तव्यं नेतरत्।**" अर्थात् यज्ञ में जो-जो युक्ति सिद्ध और आवश्यक है वह-वह करना चाहिए, करने योग्य है। इसलिए यज्ञ में वस्त्रादि गौण हैं, फिर भी यज्ञ में सादे वस्त्र ही पहने। उपरोक्त वार्ता का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि यज्ञ में कोट-पतलून का समर्थन है। वस्त्रों से यज्ञ का महत्त्व कम नहीं हो जाता।

जिज्ञासा ४ - (क) सामान्यतः दैनिक, साप्ताहिक हवन के समय थाली प्रथा प्रचलित है, जिसमें आगन्तुक अपनी श्रद्धानुसार धनराशि देते हैं, इस विषय में अपने विचारों से अवगत करायें।

(ख) सामान्यतः दैनिक, साप्ताहिक यज्ञ में पुरोहित, यजमान उपस्थित व्यक्तियों को रोली, हल्दी से तिलक करते हैं तथा हाथ में रक्षा सूत्र (कलावा) भी बाँधते हैं। वैदिक साहित्य इस विषय में क्या बताता है?

(ग) यज्ञ में आये तमाम व्यक्ति, आर्यसमाजी अपने हाथ की उँगलियों में विभिन्न प्रकार की अँगूठियाँ पहने हुए होते हैं। इससे प्रदर्शित होता है कि उन व्यक्तियों में आर्यसमाजी की आन्तरिक चेतना नहीं है। मात्र बाह्य रूप से आर्य समाजी हैं।

– डॉ. लक्ष्मणसिंह टाँक, पूर्व प्राचार्य, ५१ देवपुरम्, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

समाधान- (क) यह थाली प्रथा ठीक प्रतीत नहीं होती। यह पौराणिकों से आर्यसमाज में आयी लगती है। इस थाली प्रथा के अनुसार थाली में पैसे डालने से कोई श्रद्धा भी प्रकट नहीं होती। महर्षि दयानन्द ने तो आर्यसमाज में आर्य सदस्यों को अपनी आय का दशांश देने को कहा है। यदि सदस्य गण दशांश देते हैं तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। थाली प्रथा में प्रायः लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार पैसे नहीं रखते, कम ही रखते हैं, फिर इसको श्रद्धानुसार कैसे कह सकते हैं? श्रद्धानुसार तो दशांश या उससे अधिक देना है, कम नहीं। इस थाली प्रथा को छोड़ कर किसी दिन विशेष पर इकट्ठा अपने दान को दे देना, रसीद कटवा लेना ही अच्छा है।

(ख) रोली, हल्दी से तिलक करना और हाथ में धागा बाँधना भी पौराणिकों से ही आया है। इसके लिए किसी वैदिक साहित्य में पढ़ने-सुनने को नहीं मिला, न ही मिलता है। जिस-किसी को किसी आर्ष ग्रन्थ में मिला हो तो अवश्य अवगत करावें। पूना प्रवचन ५ व सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ११ में महर्षि दयानन्द ने इन तिलक आदि का खण्डन अवश्य किया है। हमारे पुरोहित आदि सिद्धान्तों को ठीक तरह न जानने के कारण, दक्षिणा अधिक प्राप्ति के कारण अथवा अपने यजमान को प्रसन्न करने के लिए करते हैं, सो उचित नहीं। ऐसे ही यज्ञ के ब्रह्मा आशीर्वाद देने के लिए सभी आगन्तुकों को बुलाते हैं, फल आदि प्रसाद रूप में देते हैं, यह भी द्रव्य हरण के लिए ही है। यजमानों को आशीर्वाद देना चाहिए, दिया जाता है सो उचित है।

यज्ञ-विषयक विधि-विधान संस्कार विधि अथवा यज्ञ गोष्ठियों में वैदिक विद्वानों द्वारा निर्णीत क्रिया कलाप के अनुसार करना चाहिए, मनमाने ढंग से नहीं। यदि यजमान पौराणिकों के प्रभाव से इस विषय में

अज्ञानी हैं तो उनको सरलता से वैदिक रीति बताई जा सकती है, बतानी चाहिए। ऐसा ही पुरोहित आदि को करना उचित है, मिथ्या अवैदिक रीति को न करें, न चलावें।

(ग) अँगूठी पहनने मात्र से ऐसा नहीं कह सकते कि उनके अन्दर आर्यसमाज के प्रति चेतना भाव नहीं है और न ही सभी लोग बिना चेतना भाव वाले हो सकते हैं। चारों आश्रमों में से गृहस्थ को आभूषण पहनने, धारण करने की छूट है, वह अच्छे-अच्छे आभूषण धारण कर सकता है। आपने लिखा- विभिन्न प्रकार की अँगूठियाँ.....। विभिन्न प्रकार की से यदि विभिन्न नगों वाली से है और उन नगों के प्रभाव से है तो इस प्रकार की भावना से युक्त होकर अँगूठी पहनना ठीक नहीं। उन नगों से अपने हानि-लाभ में प्रभाव मानना मिथ्या धारणा है और आर्यसमाजी इस प्रकार की मिथ्या धारणा को नहीं पालता। यदि यही मिथ्या धारणा रखते हुए अँगूठियाँ पहनता है तो अवश्य ही उसकी आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रति आन्तरिक चेतना न्यून है।

जिज्ञासा ५- महोदय, मैं आपको जिज्ञासाएँ भेज रहा हूँ। आशा है उचित समाधान प्राप्त होगा।

(क) अथ देवयज्ञः, अग्निहोत्रम् में समिधादान के चार मन्त्रों से तीन समिधा की आहुतियाँ दी जाती है। पहली व तीसरी समिधा की आहुतियों में तो कोई दिक्कत नहीं आती है, दूसरी समिधा को दो मन्त्रों के उच्चारण के पश्चात् आहूत किया जाता है। मैं बचपन से देखता आ रहा हूँ कि कोई न कोई अवश्य गलती करता है। यदि इस दूसरी समिधा को एक ही मन्त्र से ही आहुति देने की व्यवस्था की जाय तो क्या यज्ञ का लाभ कम हो जाएगा? गलती करने से तो अच्छा है कि व्यवस्था में सुधार कर लिया जाय।

(ख) जब यज्ञ किया जाता है तो यज्ञ के ब्रह्मा दक्षिण दिशा में बैठते हैं और मुख उत्तर दिशा की ओर होता है। यदि भवन का निर्माण कुछ इस

प्रकार का है कि ब्रह्मा को उत्तर दिशा में बैठ कर दक्षिण की ओर मुख करना पड़े तो यज्ञ की प्रक्रिया पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

रवि आर्य, म.नं. २-बी, सड़क-५१, सेक्टर-८, भिलाई (पश्चिम), छत्तीसगढ़-४९०००९

समाधान (क) अग्निहोत्र में समिधादान मन्त्र ४ हैं और समिधाएँ ३ हैं। बीच के दो मन्त्रों से दूसरी समिधा दी जाती है। इस दूसरी समिधा की आहुति देते समय प्रायः गलती करते हैं, क्योंकि दूसरे मन्त्र को बोल तीसरे मन्त्र की समाप्ति पर समिधादान करना होता है, किन्तु यजमान दूसरे मन्त्र पर ही समिधा आहूत कर देता है, यह समस्या है। इस समस्या से बचने के लिए आपका कथन है कि इस दूसरी समिधा को एक ही मन्त्र से आहूत कर व्यवस्था में सुधार कर लिया जाये, जिससे गलती न हो। इसके लिए हमारा कथन है कि व्यवस्था परिवर्तन किया जा सकता है, कर सकते हैं और इस व्यवस्था परिवर्तन से यज्ञ के लाभ में भी कोई अन्तर नहीं आयेगा, यज्ञ का लाभ यथावत् रहेगा, किन्तु इस एक दिक्कत (समस्या) से बचने के लिए व्यवस्था परिवर्तन करने से अनेक व्यवस्थाएँ परिवर्तित करनी पड़ सकती हैं। जैसे इस समिधादान करने में त्रुटि कर रहे हैं, वैसे आचमन, अङ्गस्पर्श, जल सेचनादि में भी त्रुटि करते हैं। बहुत से लोग आचमन को ही ठीक से विधिवत् नहीं कर पाते। अङ्गस्पर्श करते हुए पहले दाहिने ओर फिर बायी ओर का अङ्गस्पर्श करना होता है, इसमें भी प्रायः लोग उल्टा करते हैं। ऐसे ही जल सेचन करते हुए त्रुटियाँ होती हैं। इसलिए ऐसा न हो कि जहाँ हमें समस्या दिखे, वहाँ व्यवस्था परिवर्तन कर लेवें। यथार्थ में तो कोई दिक्कत है ही नहीं। दिक्कत है तो यह कि हमने यज्ञ की प्रक्रिया को न स्वयं ठीक से समझा, न अन्यों को समझाया। यदि हम यज्ञ पद्धति को ठीक से समझ व समझा देवें तो कोई दिक्कत नहीं आयेगी।

रही व्यवस्था सुधार (परिवर्तन) की बात तो इस लम्बे काल व

व्यापक रूप से चली आ रही व्यवस्था का परिवर्तन करना इतना सरल नहीं है, जितना हम सोचते हैं। हाँ, हम अपना सुधार (परिवर्तन) कर सकते कि जब हम कहीं यज्ञ करवाते हैं वा कोई आचार्य, पुरोहित करवाता है तो यजमान को ध्यान दिलाते हुए उससे ठीक-ठीक क्रिया करवावें। यदि त्रुटि करता है तो उसको पुनः सरलता से बताते हुए ठीक क्रिया करवावें, यही सुधार उचित है।

(ख) यज्ञ में ब्रह्मा का स्थान दक्षिण दिशा में होता है, यह सामान्य नियम है। यदि स्थान अनुकूल है तो दक्षिण दिशा में ही ब्रह्मा का आसन होना चाहिए, **किन्तु यदि स्थान की अनुकूलता नहीं है तो जैसी अच्छी व्यवस्था बने वैसा कर लेवें, इससे यज्ञ प्रक्रिया में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा।** जहाँ सामान्य नियम और अपवाद हो वहाँ अपवाद काम करता है, उससे अपना कार्य सिद्ध कर लेना चाहिए।

जिज्ञासा ६ - घर बनाते हैं तो गृह-प्रवेश संस्कार करते हैं। कुछ सामग्री होती है। चारों कोनों में चार ओम् के झण्डे गाड़ते हैं। एक थाली में शीशम के पत्ते, आम के पत्ते, फूल, गोबर, दही, मधु, घी, दूध आदि मिलाकर ध्वजों की जड़ में डालते हैं। जलसिंचन करते हैं। चारों कोनों में कुण्ड ले जाकर आहुतियाँ देते हैं। पति-पत्नी यह कार्य सम्पन्न करते हैं। इन सब चीजों के डालने का कारण क्या है? पण्डितों से पूछने पर वे मौन साध लेते हैं। आप उत्तर देकर जिज्ञासा का समाधान अवश्य कर सकते हैं।

- सोनालाल नेमधारी, कारोलिका, बेलप्रट, मोरिशस

समाधान- गृह प्रवेश विधि में ऋषि ने हवन और हवन के अतिरिक्त क्रिया विशेष करने का विधान किया है। हवन और क्रिया विशेष का विधि विधान 'संस्कार विधि' में महर्षि स्वामी दयानन्द ने दिया हुआ है। क्रिया विशेष के लिए कांस्यपात्र में उदुम्बर, गूलर, पलाश के पत्ते, शाडवल, तृणविशेष, गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव- इन सब वस्तुओं को

मिलाया जाता है। फिर इन मिले हुए पदार्थों को चारों दिशाओं के समीप बिखेरा जाता है।

आपका प्रश्न है- उदुम्बर, गूलर आदि के पत्ते व अन्य वस्तुओं को डालने का क्या कारण है? इसका संक्षिप्त उत्तर है कि ये सभी वस्तुएँ हमारी समृद्धि, ऐश्वर्य, सम्पन्नता और स्वास्थ्य के कारक हैं। जब हम नये घर में निवास करने वाले हैं तो उस नये घर में सब प्रकार की सम्पन्नता रहे, ये सब उसके प्रतीक हैं। कांस्यपात्र हमारी आर्थिक सम्पन्नता का प्रतीक है, दही, घृत, मधु आदि हमारी समृद्धि के प्रतीक हैं। गूलर, उदुम्बर, यव आदि औषधियाँ व वनस्पतियाँ हमें स्वस्थ रखने के लिए हैं, ये हमारे स्वास्थ्य के प्रतीक हैं और कुशा पवित्रता का प्रतीक है।

हमारे घर में आर्थिक सम्पन्नता बनी रहे, दूध, दही, घृत आदि से हमारा घर समृद्ध रहे, घर में रहने वाले सभी स्वस्थ रहें और सब प्रकार की पवित्रता हमारे घर में सदा बनी रहे, इसलिए इस सामग्री विशेष को घर की चारों दिशाओं पर बिखेरा जाता है।

जिज्ञासा ७ - हम हमेशा यज्ञों का आयोजन करते हैं। यज्ञ से पहले कम से कम आठ-दस दिन पवित्रता धारण करते हैं। खाने-पीने आदि कामों में यज्ञकर्त्ता अपने घर पास-पड़ौस के लोगों को भी बुलाता है। लोग आते हैं, श्रद्धा के साथ पण्डित जी यज्ञ करते हैं और अन्त में सभी से आग्रह करते हैं कि पूर्णाहुति तीन बार वे भी करें। हो सकता है, सभी लोग तैयार होकर नहीं आये हों। जल्दी-जल्दी पुराने वस्त्रों में भी आ गये हों या एक दिन पहले कुछ न खाने वाली चीज खा लिये हों। अब सभी लोग बारी-बारी से आहुतियाँ देते हैं। ऐसी स्थिति में बिना तैयारी भी वह व्यक्ति आहुति देने चला जाता है। लोग क्या सोचेंगे? नहा-धोकर नहीं आया है। अपने को सही साबित करने के लिये ऐसा करना पड़ता है। कहाँ तक सभी से पूर्णाहुति करवाना सही है?

- **सोनालाल नेमधारी आर्यभूषण, कारोलिन, बेलडाट, मोरिशस**

समाधान - यज्ञकर्म में भाग लेने वालों को पवित्रता धारण करनी चाहिए। बाहर-भीतर से पवित्र होकर यज्ञकर्म करना चाहिए- यह उत्तम स्थिति है। यज्ञकर्म स्नान करके, धुले हुए वस्त्र पहनकर करने का शास्त्रीय विधान है, किन्तु यदि व्यक्ति किसी परिस्थिति के कारण बाह्य शुद्धि स्नान आदि नहीं कर पाया तो उस व्यक्ति को यज्ञकर्म नहीं छोड़ना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में भी यज्ञकर्म करना लाभदायक ही होगा और यदि उस व्यक्ति ने यज्ञ नहीं किया तो पाप लगेगा। ऋषि दयानन्द ने हमें परिस्थिति विशेष में विकल्प दिया है कि यदि जल की व्यवस्था न हो और आलस्य भी न हो तो वहाँ बिना स्नान भी यज्ञकर्म, सन्ध्या आदि किया जा सकता है। मात्र स्नान आदि के न करने से नित्यकर्म छोड़े नहीं जाते, छोड़ने नहीं चाहिए। क्योंकि शास्त्र कहता है-

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि।।
नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्।।

- मनु. २.१०५-१०६

वेद के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पंचमहायज्ञों के करने और होममन्त्रों में अनध्याय विषयक अनुरोध (आग्रह) नहीं है, क्योंकि नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता। जैसे श्वास-प्रश्वास सदा लिये जाते हैं, बन्द नहीं किये जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिए, न किसी दिन छोड़ना, क्योंकि अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है। जैसे झूठ बोलनें में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही

होता है।

इसलिए परिस्थिति विशेष में स्नान आदि गौण कर्म छोड़ा जा सकता है, किन्तु यज्ञादि मुख्य कर्म नहीं छोड़े जा सकते।

यज्ञ की पूर्णाहुति सभी देवें- ऐसा कहीं विधान नहीं है। जो यजमान बना है, पूर्णाहुति उसी के हाथों होती है। पूर्णाहुति के लिए सभी से आग्रह करना पुरोहित की मान्यता है। ऐसा कर पुरोहित सबको प्रसन्न करना चाहते हैं। आजकल लोगों की सुविधा व उपलब्धता को ध्यान में रखते हुए भी यज्ञ करते-करवाते हैं, जबकि पुरोहित का कर्त्तव्य है कि वह ऋषियों की शुद्ध परम्परा अनुसार यज्ञ करे-करवावे।

यज्ञ में जो बिना स्नान के स्नान किया हुआ अपने को दिखाना चाहता है, यह उस व्यक्ति की न्यूनता है, उसमें सत्य दिखाने का आत्मबल नहीं है। यदि होता तो वह अपनी यथार्थ स्थिति रख सकता है।

जिज्ञासा ८- अधिकांश आर्य समाजों में यज्ञ के पश्चात् **''सर्वे भवन्तु सुखिनः.....''**का पाठ किया जाता है।

शंका संख्या १- यह श्लोक है या कि मन्त्र है? क्या यह किसी आर्ष ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है?

शंका संख्या २- इस श्लोक के बोलने के पश्चात् पद्य में इसका अर्थ भी गाया जाता है- ''हे ईश सब सुखी हो कोई न हो दुखारी''

एक शब्द है मुरारी = मुरा+अरि= अर्थात् जो मुरा नाम की राक्षसी का शत्रु हो- वह मुरारी (श्री कृष्ण)

एक शब्द है पुजारी= पूजा+अरि अर्थात् जो पूजा का शत्रु हो (महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश में इसका उल्लेख किया है।)

एक शब्द है दुखारी= दुख +अरि= जो दुख का शत्रु हो अर्थात् खुशी। गाया जाता है - कोई न हो दुखारी अर्थात् कोई सुखी न हो। क्या यह गायन करना उचित है?

नोट- आप कृपया, यह न कहें कि अरि में 'रि' छोटी मात्रा है, यहाँ बड़ी मात्रा का प्रयोग किया गया है। यह केवल दूसरी पंक्ति "सब हो नीरोग भगवन, धनधान्य के भण्डारी" भण्डारी शब्द की तुकबन्दी करने के लिये दुखारि को दुखारी कर दिया गया है।

कृपया, समाधान करें।

- जयदेव अवस्थी, १२, आर्य (जैन) कॉलोनी, केसरबाग के पास, शिवरोड़, रातानाड़ा, जोधपुर-३४२००१

समाधान - यज्ञ के बाद प्रायः यज्ञ प्रार्थना व अन्य श्लोक, गीत आदि गाये जाते हैं, गाये जा रहे हैं। अनेक बार समय का अभाव होने पर भी ये प्रार्थना श्लोक आदि यज्ञ के समय को बढ़ा देते हैं, जिससे जो लोग अपने व्यस्त जीवन में से समय निकालकर यज्ञ करना चाहते हैं तो वे इस लम्बी प्रक्रिया को देख पीछे हट जाते हैं।

आपको बात दें कि इस यज्ञ प्रक्रिया को ऋषि दयानन्द जितना सरल बना सकते थे, उतना सरल बनाकर गये हैं। इस सरलतम विधि से यज्ञ करते हैं तो अति व्यस्त व्यक्ति भी नित्य प्रति यज्ञार्थ १५-२० मिनट निकाल सकता है। महर्षि दयानन्द ने यज्ञ की पूर्ण आहुति के बाद कुछ करने को नहीं लिखा है। हाँ, संस्कार विशेष में 'वामदेव' गान की तो बात महर्षि कहते हैं। फिर भी जिसके पास समय है, वह ये यज्ञ प्रार्थना आदि कर सकता है, इसके करने से कोई विशेष पुण्य मिलेगा अथवा न करने से पाप हो जायेगा- ऐसी कोई बात प्रतीत नहीं होती।

अब आपकी बात पर आते हैं- आपने जो "**सर्वे भवन्तु सुखिनः.....**" विषय में पूछा है कि यह मन्त्र है या श्लोक? तो हम आपको बता दें कि यह किसी वेद का मन्त्र नहीं है। यह तो पुराण का श्लोक है। गरुड़ पुराण में श्लोक कुछ पाठ भेद से दिया गया है। पुराण में यह श्लोक इस रूप में है-

सर्वेषां मंगलं भूयात् सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भागभवेत्।।

– ग. पु. अ. ३५.५१

पुराण में "सर्वे भवन्तु सुखिनः" के स्थान पर "सर्वेषां मंगलं भूयात्" है। आपकी जिज्ञासा इस श्लोक के कवितांश पर है। आप "कोई न हो दुःखारी" का अर्थ "कोई न हो दुःख का शत्रु" ऐसा निकाल रहे हैं, अर्थात् इस अर्थ के अनुसार सभी दुःखी होवें, ऐसा अभिप्राय आयेगा। इस प्रकार का अर्थ करने में आपका हेतु है 'पुजारी' शब्द। इस पुजारी शब्द का अर्थ आप पूजा का शत्रु कर रहे हैं और इसमें महर्षि दयानन्द का साक्ष्य भी दे रहे हैं। हम आपको बता दें, 'पुजारी' शब्द का अर्थ तो "पूजा करने वाला" ही है। इसी अर्थ को 'पुजारी' शब्द लिए है, कहा जा रहा है। महर्षि ने जो अर्थ 'पूजा का शत्रु' किया है, वह आजकल के पूजा करने वालों पर विनोद में (मजाक में) व्यंग किया है। मात्र वहाँ महर्षि विनोद में यह अर्थ कर रहे हैं, न कि यथार्थ में। यदि महर्षि से कोई यथार्थ में इसका अर्थ पूछता तो महर्षि 'पूजा करने वाला' इस अर्थ को ही कहते बताते, क्योंकि इस शब्द का अर्थ ही यह है।

आपने अपनी बात को सिद्ध करने के लिए 'मुरारि' शब्द दिया है, यह पहली बार आपने ठीक लिखा, किन्तु इससे आपकी बात सिद्ध न हुई तो इसको बिगाड़ कर 'मुरारी' लिख दिया, जो कि अयुक्त है। कहीं भी किसी भी कोश में आपको 'मुरारि' (मुर नामक दैत्य को मारने वाला= कृष्ण) के स्थान पर 'मुरारी' नहीं मिलेगा, इसलिए जिस बात को आप सिद्ध करना चाहते हैं, वह सिद्ध न होगी।

आपने यह भी प्रतिबन्ध लगा दिया कि मात्रा का भेद न करें। आप भाषा विज्ञान, शब्द विज्ञान को जानेंगे–समझेंगे तो ऐसा भ्रम नहीं होगा। जो शब्द जैसा है, वह अपने उस स्वरूप के अनुसार, प्रकरण और प्रसंग अनुसार अर्थ देता है। ऐसा ही यहाँ भी समझें।

जिज्ञासा– ९. यजुर्वेद के '**सत्याःसन्तु यजमानस्य कामाः**' मन्त्रांश

को बदलकर कुछ पुरोहित आशीर्वाद रूप में सत्याः सन्तु यजमानायोः अथवा यजमानानां बोलते हैं। मन्त्रों में परिवर्तन का अधिकार उन्हें हैं या नहीं?

– इन्द्रजित् देव चूना भट्ठिया, सिटी सैन्टर के निकट, यमुनानगर-१३५००१ (उ.प्र.)

समाधान- दूसरा प्रश्न आपका **'सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः'** -य. १२.४४। इस मन्त्रांश के 'यजमानस्य' पद पर है। इस मन्त्र के 'यजमानस्य' पद में जाति (समूह को शास्त्रीय भाषा में जाति कहते हैं) में एक वचन समझना चाहिए, जिससे एक वा अनेक यजमानों के लिए यह वाक्य ठीक बैठ जाता है। पुनरपि यदि कोई इस पद को 'व्यक्ति' (एक इकाई) रूप में बोलना चाहे और 'जाति' में एकत्व का ज्ञान न हो, तो 'यजमानयोः' या 'यजमानानाम्' का प्रयोग भी कर सकता है। इसका समाधान व्याकरण महाभाष्य के प्रथम आह्निक में दिया है-

न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः।
ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः।
तान् नावैयाकरणः शक्नोति यथाऽर्थं विपरिणमयितुम्

अर्थात् – वेद में मन्त्र सब लिङ्गों और सब विभक्तियों से युक्त नहीं पढ़े हैं। उन्हें यज्ञगत पुरुष के द्वारा यथावत् (तत्तत् यज्ञ के अनुरूप) विपरिणमित करना (बदलना) होगा। उनको अवैयाकरण नहीं बदल सकता। ऐसा करना मूल मन्त्र के संहितापाठ में परिवर्तन नहीं, अपितु विनियोग में सुविधानुसार परिवर्तन होगा।



व्याकरण व शास्त्र

जिज्ञासा १ - सत्यार्थप्रकाश आदि में- 'इदि परमैश्वर्ये, ऋ गतिप्रापणयोः, पा रक्षणे' आदि लिखा गया है। इनका निर्धारण कौन और कैसे, किस आधार पर करता है कि 'पा' का अर्थ 'रक्षण करना' होता है? 'पा' का सम्बन्ध रक्षण के साथ, 'इदि' का सम्बन्ध ऐश्वर्य के साथ, 'ऋ' का सम्बन्ध गति के साथ, इत्यादि कौन सुनिश्चित करता है और किन नियमों से? कृपया, यह समझाने का कष्ट कर अनुगृहीत करें।

- भावेश मेरजा, गुजरात

समाधान- भावेश जी ने दो प्रश्न पूछे हैं-

१. 'पा-आदि' धातुओं के 'रक्षणादि' अर्थों का निर्णय कौन करता है?

२. किन नियमों के आधार पर धातुओं के अर्थों का निर्णय किया जाता है?

१. प्रथम प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है- भारतीय इतिहास में सब विद्याओं को वेद से निकालकर, उनका प्रवचन करने वाला आदि प्रवक्ता ब्रह्मा माना जाता है। "जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों ऋषियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा से ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया।" (स.प्र. समु. ७)। "पूर्वोक्त अग्नि, वायु, रवि और अङ्गिरा से ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था" (ऋ भा.भू. वेदोत्पत्ति-विषय)। ऋक्तन्त्रकार ने लिखा है- "**ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः**"। अर्थात् ब्रह्मा ने बृहस्पति को उपदेश किया, बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भारद्वाज को, भारद्वाज ने अन्य ऋषियों को, ऋषियों ने ब्राह्मण को..... इस प्रकार विद्या की परम्परा चली। पातञ्जल महाभाष्य के "**बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां**

शब्दपारायणं प्रोवाच''- से स्पष्ट है कि बृहस्पति ने इन्द्र को एक-एक शब्द का अर्थ सहित उपदेश किया था। इन्द्र के अध्ययन काल तक प्रकृति (धातु/प्रातिपदिक) प्रत्यय का विभागीकरण नहीं हुआ था। तैत्तिरीय संहिता (६/४/७) में लिखा है- **''वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति..... तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।''** अर्थात् वाणी पुराकाल में अव्याकृत (=प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कार से रहित) थी। देवों ने इन्द्र से कहा कि इस वाणी को व्याकृत (= प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कार से युक्त) करो। इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से तोड़कर व्याकृत किया, अर्थात्=प्रकृति-प्रत्यय का निर्धारण किया। इससे स्पष्ट है कि 'पा-आदि' प्रकृति (धातुओं) के 'रक्षणादि' अर्थों का निर्धारण सर्वप्रथम इन्द्र ने किया। इन्द्र से लेकर पाणिनि पर्यन्त कई आचार्य व्याकरण के प्रवक्ता हो गये हैं, जिन्होंने समय-समय पर व्याकरण का प्रवचन किया। महामहोपाध्याय पं. युधिष्ठिर जी को पाणिनि से पूर्वकालीन लगभग ८५ व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों के नाम ज्ञात थे।

२. दूसरे प्रश्न का उत्तर-

''कथं पुनर्ज्ञायते- अयं प्रकृत्यर्थाः, अयं प्रत्ययार्थः'' इति? सिद्धन्त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। (महाभाष्य १/३/१)। यह कैसे जाना जाता है कि यह प्रकृति का अर्थ है और यह प्रत्यय का अर्थ है? अन्वय-व्यतिरेक नियम से यह ज्ञात होता है। महाभाष्य **के इस** उद्धरण से स्पष्ट है कि अन्वय-व्यतिरेक नियम के द्वारा 'पा-आदि' धातुओं के 'रक्षणादि' अर्थों का निर्धारण किया गया है। अन्वय-व्यतिरेक अर्थात् जिसके होने पर जो हो और जिसके न होने पर जो न हो, वह उससे सम्बन्धित होता है। जैसे-

पचति (पच्+अति) = पकाता है (पकाना, एकत्व, कर्तृत्व, प्र.पु.);
पचन्ति (पच्+अन्ति) = पकाते हैं (पकाना, बहुत्व, कर्तृत्व, प्र.पु.);
पठति (पठ्+अति) = पढ़ता है (पढ़ना, एकत्व, कर्तृत्व, प्र.पु.);

पठन्ति (पठ्+अन्ति) = पढ़ते हैं (पढ़ना, बहुत्व, कर्तृत्व, प्र.पु.);

पच्यते (पच्+यते) = पक रहा है (पकाना, एकत्व, कर्मत्व, प्र.पु.)।

यहाँ उदाहरणों में 'पचति' व 'पचन्ति' में 'पच्' का अन्वय (=बने रहना) है, तदनुरूप इन दोनों के अर्थों में भी 'पकाना' अर्थ दिखाई दे रहा है। किन्तु 'पठति' व 'पठन्ति' में 'पच्' का व्यतिरेक (अभाव, हट जाना) है, तदनुरूप उनके अर्थों में भी 'पकाना' अर्थ का अभाव है तथा 'पठ्' शब्द का अन्वय है और अर्थ में भी 'पढ़ना' अर्थ दिखाई देता है, अतः अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध होता है कि 'पच्' धातु का अर्थ 'पकाना' तथा 'पठ्' धातु का अर्थ 'पढ़ना' है।

अन्वय-व्यतिरेक नियम से ही इन्द्र ने भी वेद व तत्कालीन लोक-व्यवहार की भाषा से धातुओं के अर्थों का निर्धारण किया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित शब्द वेद में आये हैं-

पाति (पा+अति) = (वह) रक्षा करता है (रक्षा करना, एकत्व, कर्तृत्व, प्र.पु.); (ऋ ३/५५/१०)।

पान्ति (पा+अन्ति) = (वे) रक्षा करते हैं (रक्षा करना, बहुत्व, कर्तृत्व, प्र.पु.); (ऋ ५/१२/४)।

पासि (पा+असि) = (तू) रक्षा करता है (रक्षा करना, एकत्व, कर्तृत्व, म.पु.); (ऋ ६/३/१)।

पाथः (पा+अथः) = (तुम दोनों) रक्षा करते हो (रक्षा करना, द्वित्व, कर्तृत्व, म.पु.); (ऋ १/१५९/३)।

पामि (पा+आमि) = (मैं) रक्षा करता हूँ (रक्षा करना, एकत्व, कर्तृत्व, उ.पु.); (ऋ १०/२८/२)।

पातु (पा+अतु) = (वह) रक्षा करे (रक्षा करना, एकत्व, कर्तृत्व, प्र.पु., प्रैषादि); (ऋ १/१८/५)।

पान्तु (पा+अन्तु) = (वे) रक्षा करें (रक्षा करना, बहुत्व, कर्तृत्व,

प्र.पु., प्रैषादि); (ऋ. २/३/८)।

पाहि (पा+हि) = (तू) रक्षा कर (रक्षा करना, एकत्व, कर्तृत्व, म.पु., प्रैषादि); (ऋ. १/३६/१५)।

पाता (पा+ता) = रक्षा करने वाला (रक्षा करना, एकत्व, कर्तृत्व,); (ऋ. २/२०/३)।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में 'पा' शब्द अन्वित है और सभी अर्थों में रक्षा करना अर्थ भी अन्वित है। अतः अन्वय-व्यतिरेक नियम से सिद्ध होता है कि 'पा' का अर्थ रक्षा करना है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक नियम के द्वारा 'पा-आदि' धातुओं के 'रक्षा करनादि' अर्थ पुराकाल में निर्धारित किये गये।

(जिज्ञासा १ का समाधान आचार्या शीतल जी- कन्या गुरुकुल, आर्य वन, रोजड़ ने किया है।)

जिज्ञासा २- 'आस्था भजन' चैनल पर प्रस्तुत समाधिपाद (१:१) की मीमांसा के सन्दर्भ में 'अथ', 'योग' आदि शब्दों की नव व्याख्या सारगर्भित एवं रोचक है। 'अथ' शब्द के छः अर्थ हैं। संस्कृत भाषा में आपने उदाहरण देकर समझाया। सम्भव हो तो 'अथ' शब्द को हिन्दी में वाक्य बनाकर समझाएँ। 'समाधि' शब्द का अर्थ है- 'देखना'। कृपया, समाधि शब्द को भी हिन्दी में वाक्य बनाकर समझाएँ।

- अजय कुमार मिश्र, ए-३३२, तिगड़ी,
नई दिल्ली-११००६२

समाधान - आप अथ और समाधि शब्दों को हिन्दी वाक्य में देखना चाहते हैं। दोनों के अर्थ तो आप सुन ही चुके हैं। वैसे आपको बता दें कि ये दोनों शब्द संस्कृतनिष्ठ हैं, हिन्दी निष्ठ नहीं हैं। फिर भी हिन्दी वाक्य में आपको प्रयोग करके दिखायेंगे। अन्य पाठकों की दृष्टि से इन दोनों शब्दों के अर्थ यहाँ लिखते हैं। अथ-

अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले।
विकल्पानन्तरप्रश्नकात्स्न्यारम्भसमुच्चये।।

संशय, अधिकार, मङ्गल, विकल्प, पश्चात्, प्रश्न, पूर्णता, प्रारम्भ और समुच्चय=संग्रह (संघात) ये नौ अर्थ अथ शब्द के हैं।

समाधि=समाधान, दर्शन, संग्रह करना, एकाग्र करना, भावचिन्तन आदि अर्थ समाधि के हैं।

अथ के हिन्दी वाक्य-अथ करता हूँ=प्रारम्भ करता हूँ। इसमें अथ नहीं=इसमें विकल्प नहीं है। अथ करूँगा=पश्चात् करूँगा। यहाँ अथ नहीं है= यहाँ संशय नहीं है आदि।

समाधि के हिन्दी वाक्य-इसकी समाधि लग गई=इसका समाधान हो गया अथवा इसको दर्शन हो गये। ये समाधिस्थ है=ये भावचिन्तन में है आदि।

जिज्ञासा ३ - मनुस्मृति कितनी प्राचीन है?

- प्रो. अरविन्द विग

समाधान- हमारा वैदिक साहित्य अत्यधिक प्राचीन है, मनुस्मृति को भी अति प्राचीन माना जाता है। इसका काल आदि सृष्टि है, ऐसा महर्षि दयानन्द व अन्य वैदिक विद्वान् मानते हैं। जो मनु का काल है वही मनुस्मृति का काल है, अर्थात् आदि सृष्टि में हुए महर्षि ब्रह्मा के पौत्र मनु हुए। उन्हीं मनु से मनुस्मृति मानव का संविधान रचित हुआ। इससे आदि सृष्टि मनुस्मृति का काल सिद्ध होता है। दूसरा- हमारा प्राचीनतम साहित्य वेद व ब्राह्मण आदि ग्रन्थ हैं, उनमें वेद अपौरुषेय हैं। पौरुषेय ग्रन्थ तैत्तिरीय, आरण्यक आदि ग्रन्थों में मनु की घटनाओं का वर्णन है, इससे भी मनुस्मृति का प्राचीन होना सिद्ध होता है।

इस विषय में मनुस्मृति के आधिकारिक वैदिक विद्वान् मनुस्मृति के भाष्यकार, गुरुकुल काँगड़ी के कुलपति डॉ. सुरेन्द्र जी ने विस्तार से लिखा

है, हम यहाँ उनके लेख को ज्यों का त्यों उद्धृत कर रहे हैं।

''मनु और मनुस्मृति-काल निर्धारण-

मनुस्मृति में हुए प्रक्षेपों में जिन बातों को सर्वाधिक क्षति पहुँचायी है, उनमें एक है- मनु और मनुस्मृति का काल निर्णय। लेखकों ने मनुस्मृति में प्राप्त वर्णनों पर विचार किया है और उनके अनुसार ही काल का अनुमान लगाया गया है। काल निर्णय के लिए आधार बनाए गये उन वर्णनों पर आगे विचार किया जायेगा, जिसके आधार पर मनुस्मृति को अर्वाचिन घोषित किया है। यहाँ प्रथम मनु और फिर वर्तमान मनुस्मृति के काल निर्धारण सम्बन्धी अन्य आधारों पर विचार किया जाता है। पूर्वोक्त विवेचन से यह मत स्थिर हो गया है कि स्मृति, धर्म-नियम आदि प्रसंग में प्राप्त होने वाला मनु स्वायम्भुव मनु ही है। इस समस्त विवेचन और ग्रन्थ में मनु नाम से यही अभिप्रेत होगा।

(क) प्राचीन भारतीय साहित्य में स्वायम्भुव मनु का काल-

मनु के काल का अनुमान लगाने में मनुस्मृति तथा मनुस्मृति से भिन्न भारतीय साहित्य में प्राप्त वंशावलियाँ ही सहायक हैं। मनुस्मृति में तीन स्थानों पर मनु के वंश की चर्चा है-

(क) ब्रह्मा से विराज, विराज से मनु, मनु से मरीचि आदि दस ऋषि उत्पन्न हुए।

(मनु. १.३२-३५)

(ख) ब्रह्मा से मनु ने धर्म शास्त्र पढ़ा, मनु से मरीचि, भृगु आदि ने। यह विद्यावंश के रूप में वर्णन है।

(मनु. १.५८-६०)

(ग) हिरण्यगर्भ= ब्रह्मा के पुत्र मनु हैं और मनु के मरीचि आदि। (३.१९४)

यद्यपि मनुस्मृति के प्रसंगों में ये तीनों ही स्थल प्रक्षिप्त मालूम होते हैं,

किन्तु पारम्परिक जनश्रुति के रूप में यदि उन्हें स्वीकार करें तो स्वायम्भुव मनु पुत्र या शिष्य के रूप में ब्रह्मा से दूसरी पीढ़ी में उल्लिखित हैं। यही तथ्य इसके स्वायम्भुव (स्वयं भू=ब्रह्मा, उसका पुत्र या शिष्य) विशेषण से स्पष्ट होता है।

२. महाभारत तथा पुराणों में भी वंशावलियाँ प्राप्त हैं, उनमें भी मनु को ब्रह्मा का पुत्र बताया गया है अथवा शिष्य के रूप में उसका सीधा सम्बन्ध ब्रह्मा से वर्णित है।

(महा. आदि. १.३२/शान्ति. ३३५.४४)

प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक मान्यताओं के अनुसार ब्रह्मा को आदि सृष्टि में माना जाता है और भारत का प्रत्येक कुलवंश तथा विद्यावंश ब्रह्मा से ही प्रारम्भ होता है। इस प्रकार मनु का काल भी आदि सृष्टि का स्थिर होता है।

३. इसी मान्यता को निरुक्त (३.४) में मनु का मत उद्धृत करते हुए एक श्लोक से पुष्ट किया है-

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।।

अर्थात् दाय भाग में पुत्र और पुत्री, दोनों का अधिकार होता है- यह विसर्गादौ=आदि सृष्टि के आदि काल में स्वायम्भुव मनु ने कहा है।

यहाँ स्पष्टतः मनु का काल आदिसृष्टि बताया गया है। महर्षि दयानन्द इसी मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं- महर्षि मनु आदि सृष्टि में हुए।

४. भारतीय चतुर्युग और मन्वन्तर काल गणना पद्धति (मनु. १.६४-७३, ७९, ९०) के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति को हुए एक अरब, छियानवे करोड़, आठ लाख, तरेपन हजार, एक सौ चौदह वर्ष बीत चुके हैं और पन्द्रहवाँ सृष्टिसम्वत् इस वर्ष अर्थात् ईस्वी सन् २०१४ और विक्रम सम्वत् २०७१ में चल रहा है। इकहत्तर (७१) चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर होता

है। स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औतमि, तामस, रैवत, चाक्षुष- ये छह मन्वन्तर बीत चुके हैं। सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। इस मन्वन्तर की चतुर्युगी में यह कलियुग का समय चल रहा है।

इस सृष्टि उत्पत्ति के समय को सुनकर पाश्चात्य और आधुनिक लोग अत्यधिक आश्चर्य करते हैं और विश्वास भी नहीं करते। उन्हें यह जिज्ञासा होती है कि कालगणना का इतना हिसाब कैसे रखा गया? इसके उत्तर में उन्हें एक व्यवहार में प्रचलित प्रमाण सम्पूर्ण देश में उपलब्ध हो जायेगा। भारतीयों ने वर्षों की बात तो छोड़िये, पल और प्रहर तक का हिसाब रखा है। ज्योतिषीय पंचांगों में यह आज भी उपलब्ध है। यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों में संस्कार के समय एक संकल्प की परम्परा है, उसमें '**आर्यावर्त्ते वैवस्वतमन्वन्तरे कलियुगे अमुकप्रहरे**' आदि बोलकर संकल्प किया जाता है। इस प्रकार परम्पराबद्ध रूप से समय का हिसाब सुरक्षित है।

उपलब्ध भारतीय वंशावलियों के अनुसार ब्रह्मा को आदि वंशप्रवर्तक माना जाता है और मनु उससे दूसरी पीढ़ी में परिगणित है। इस प्रकार इस सृष्टि में जब से मानवसृष्टि का प्रारम्भ हुआ है, स्वायम्भुव मनु उस आदिसृष्टि या आदि समाज के व्यक्ति सिद्ध होते हैं।''

यह मनुस्मृति के भाष्यकार डॉ. सुरेन्द्र जी का मत है। यह मत महर्षि दयानन्द के अनुकूल व तर्क संगत है। इससे सिद्ध होता है कि मनुस्मृति की प्राचीनता आदि सृष्टि से है।

इस विषय में आधुनिक विद्वानों का मत भिन्न मिलता है। वे पाश्चात्य विद्वानों से प्रभावित होते हुए हमारे वैदिक साहित्य को ईसा के पूर्व वा ऊपर ही देखते हैं। इस विषय को विस्तार से देखने के लिए विशुद्ध मनुस्मृति का अवलोकन करें।

जिज्ञासा ४ - आपके व अन्य विद्वानों के जो लेख 'परोपकारी' पत्रिका में समय-समय पर प्रकाशित होते हैं, उनमें हमारी वैदिक संस्कृति

से सम्बन्धित ग्रन्थों का सन्दर्भ दिया जाता है। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं उनके बारे में अधिक ज्ञान नहीं रखता और कदाचित् कोई इस प्रकार की पुस्तक भी नहीं है, जिसमें उन ग्रन्थों के नाम, उनके प्रकार, लेखक/रचयिता तथा उनमें क्या ज्ञान छिपा हुआ है, प्रकाशित हों।

मेरे प्रश्न इस प्रकार हैं-

(क) ब्राह्मण ग्रन्थ कितने हैं, उनके क्या नाम हैं, उनके रचयिता/लेखक कौन हैं, प्रत्येक ग्रन्थ में क्या ज्ञान है?

(ख) इसी प्रकार श्रुतियाँ कितनी हैं, उनके क्या-क्या नाम हैं, उनके लेखक/सृजन कर्त्ता कौन हैं, उनमें किस विषय का ज्ञान है?

(ग) अब तक कितने मनु हुए हैं, उनके क्या नाम हैं, उनमें से प्रत्येक ने किस प्रकार का ज्ञान दिया? श्रीमद्भगवद्गीता में योगीराज श्री कृष्ण ने चौदह मनु को रेफर किया है, परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं कहा।

(घ) उपनिषद् ग्यारह हैं, उनके नाम मेरे पास हैं, लेकिन प्रत्येक उपनिषद् में किस प्रकार का ज्ञान है, वह नहीं मिलता या प्राप्त है।

(ङ) हमारे चार वेद हैं और वे चारों वेद ज्ञान के भण्डार हैं, लेकिन श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में सामवेद को ही अपनी दिव्य विभूति क्यों कहा है?

आपके वैशेषिक दर्शन तथा अन्य विद्वानों के शास्त्रों तथा वेदों से सम्बन्धित लेख जो कि 'परोपकारी' पत्रिका में प्रकाशित होते हैं, वे ज्ञान के भंडार होते हैं तथा मार्गदर्शक का भी योगदान देते हैं।

- डॉ. वेदप्रकाश गुप्ता, एफ १-३-३, सेक्टर ३-४, ज्ञानदीप, वाशी, नवी मुम्बई-४००७०३

समाधान (क)- मानव संस्कृति, सभ्यता व ज्ञान के भण्डार, वेद व वेदानुकूल ऋषियों के ग्रन्थ हैं। वेद स्वयं ईश्वर द्वारा बनाये हुए अपौरुषेय हैं, जिससे वे स्वतः प्रमाण हैं, अर्थात् वेद के लिए स्वयं वेद ही प्रमाण हैं।

जैसे सूर्य को दिखाने के लिए अन्य किसी प्रकार के साधन की आवश्यकता नहीं होती, सूर्य तो अपने-आप दिखने में समर्थ है, वैसे ही वेद को जानें।

वेद मन्त्र भाग हैं, मन्त्र संहिताएँ हैं, अर्थात् मूल मन्त्र भाग वेद कहलाते हैं। उनके उन मन्त्रों के जो व्याख्या करने वाले ग्रन्थ हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं। आप इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में जानना चाहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ कितने हैं, उनके लेखक कौन हैं, उनके विषय क्या हैं, यह लिखने से पहले यह देख लेते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ किनको कहते हैं? इनकी अपर संज्ञाएँ क्या हैं आदि।

महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण ग्रन्थ बताने के लिए अपनी पुस्तक 'अनुभ्रमोच्छेदन' में लिखा है- "जिससे ये ऐतरेय आदि ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् वेदों के व्याख्यान भाग हैं, अर्थात् **ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि। अर्थात् शेष भूतानि सन्तीति।**" इससे महर्षि कहना चाहते हैं कि जो ऐतरेय आदि वेद मन्त्रों की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ हैं, वे ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाते हैं।

और भी-"वेद का अपर नाम ब्रह्म है। -शतपथ ७.१.१५ में कहा है- "**ब्रह्म वै मन्त्रः**", अतः वेद मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों की ब्राह्मण संज्ञा है। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ यज्ञ भी है। इस आधार पर मन्त्रों की व्याख्या करने के साथ-साथ यज्ञ में उनका विनियोग करने तथा कर्मकाण्ड की व्याख्या एवं विवरण प्रस्तुत करने के कारण भी उन्हें ब्राह्मण नाम से अभिहित किया गया है। भट्टभास्कर ने कर्मकाण्ड तथा मन्त्रों की व्याख्या करने वाले ग्रन्थों को ब्राह्मण कहा है-

'ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां व्याख्यानग्रन्थः'

- तैत्तिरीय संहिता १.५.१का भाष्य।" स.भा.

ब्राह्मण ग्रन्थों के ही अपर नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी हैं। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में जो (देवासुराः संपत्ता आसन्) अर्थात् देव

(विद्वान्) असुर (मूर्ख) ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे- इत्यादि कथा भाग है, उसका इतिहास नाम है, जिसमें-

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्',
'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत्'
'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास',
'इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत्।'

इस प्रकार के वर्णन पूर्वक जगत् की उत्पत्ति को जिसमें कहा है, वह भाग पुराण कहलाता है।

"**कतपा मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशका:।**" जो वेदमन्त्रों के अर्थ अर्थात् जिनमें द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है, उनका नाम कल्प है।

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि की कथाओं का नाम 'गाथा' है।

जिनमें नर अर्थात् मनुष्यों ने ईश्वर, धर्मादि पदार्थ विद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है, उनको नाराशंसी कहते हैं। यह वर्णन महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेद संज्ञा विचार प्रकरण में किया है।

अब आपके मूल प्रश्न पर आते हैं- ब्राह्मण ग्रन्थ कितने हैं? आज वर्तमान में चार ब्राह्मण मुख्य रूप से प्रचलित हैं, किन्तु ब्राह्मणों की संख्या इतनी ही है, ऐसा नहीं है। विद्वानों का ऐसा मानना है कि वेद की सभी शाखाओं के अपने-अपने ब्राह्मण थे। उनमें से अनेक के आज नाम तक ज्ञात नहीं हैं। जो ब्राह्मण आज उपलब्ध हैं, वे लगभग अठारह हैं और जो उपलब्ध नहीं हैं, केवल जिनके नामों का पता मिलता है, उनकी संख्या लगभग इक्कीस है। इन ब्राह्मण ग्रन्थों, लेखकों अथवा प्रवक्ताओं के नाम कुछ को छोड़कर प्राय: नहीं मिलते हैं। इसमें कारण ऋषियों की यश कामना से रहितता होना लगता है।

प्रसिद्ध प्रचलित चार ब्राह्मण ऐतरेय, शतपथ, ताण्ड्य और गोपथ

ब्राह्मण हैं। अब कौन-सा ब्राह्मण किस वेद का है, उस वेद के कितने ब्राह्मण हैं- यह लिखते हैं। ऋग्वेद के मुख्य तीन ब्राह्मण हैं-

१. ऐतरेय ब्राह्मण : इस ब्राह्मण का प्रवक्ता इतरा का पुत्र ऐतरेय महीदास था। इस ऐतरेय ब्राह्मण में आठ पंचिकाएँ हैं। प्रत्येक पंचिका में पाँच अध्याय हैं। सम्पूर्ण ब्राह्मण में चालीस अध्याय हैं।

२. कौषीतकि ब्राह्मण : इस ग्रन्थ का परिमाण तीस अध्यायों का है। इस ग्रन्थ के प्रवचनकर्त्ता कौषीतकि अथवा शाङ्खायन इन दोनों में से कोई एक है, ऐसी विद्वानों की मान्यता है।

३. शाङ्खायन ब्राह्मणः इस ग्रन्थ में तीस अध्याय हैं। इस ग्रन्थ के नाम से पता लगता है कि इसके प्रणेता शाङ्खायन रहे होंगे।

यजुर्वेद के भी तीन ब्राह्मण उपलब्ध होते हैं-

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण : यह ब्राह्मण सबसे अधिक प्रचलन में है । इसके नाम के अनुसार इसमें एक सौ अध्याय हैं। इस ब्राह्मण में चौदह काण्ड, एक सौ अध्याय, चार सौ अड़तीस ब्राह्मण और सात हजार छः सौ चौबीस कण्डिकाएँ हैं। इसका दूसरा नाम वाजसनेय ब्राह्मण भी मिलता है। इसके रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य रहे हैं।

२. काण्व शतपथ ब्राह्मणः इस ब्राह्मण के काण्ड विभाग या वाक्य रचना के स्वतन्त्र भेद को छोड़कर यह ब्राह्मण माध्यन्दिन शतपथ के समान ही है। इसमें एक सौ चार अध्याय, चार सौ चवालीस ब्राह्मण और पाँच हजार आठ सौ पैंसठ कण्डिकाएँ हैं।

३. कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मणः इस ब्राह्मण का संकलन वैशम्पायन के शिष्य तित्तिरि ने किया था। इस ब्राह्मण में तीन अष्टक हैं।

सामवेद के ग्यारह ब्राह्मण मिलते हैं-

१. ताण्ड्य ब्राह्मण- सामवेद का यह ब्राह्मण मुख्य रूप से प्रचलित है। इसका संकलन सामविधान ब्राह्मण (२.९३) के अनुसार ताण्डि नामक

एक आचार्य ने किया था। इसमें पच्चीस प्रपाठक और तीन सौ सैंतालीस खण्ड हैं।

२. षड्विंश ब्राह्मण- इस ब्राह्मण का संकलन भी विद्वान् लोग आचार्य ताण्डि अथवा उनके निकटवर्ती शिष्यों के द्वारा किया गया मानते हैं। इस ब्राह्मण में पाँच प्रपाठक और अड़तालीस खण्ड हैं।

३. मन्त्र ब्राह्मण- इस ब्राह्मण का परिमाण दो प्रपाठकों और सोलह खण्डों का है।

४. दैवत अथवा देवताध्याय ब्राह्मण- दैवत ब्राह्मण का दूसरा नाम देवताध्याय ब्राह्मण है। यह ब्राह्मण आकार की दृष्टि से छोटा-सा ही है, इसके केवल तीन खण्ड व बासठ कण्डिकाएँ हैं।

५. आर्षेय ब्राह्मण- यह ब्राह्मण सामवेद की कौथुम शाखा को मानने वालों का ही है। इसमें सामवेद के सामगान के नामों का मुख्यतः वर्णन है। इसमें तीन प्रपाठक और बयासी खण्ड हैं।

६. सामविधान ब्राह्मण- इस ब्राह्मण में अभिचार आदि कर्मों का बहुत वर्णन है। इसमें तीन प्रपाठक व पच्चीस खण्ड हैं।

७. संहितोपनिषद् ब्राह्मण- यह बहुत छोटा-सा है। सारा ही एक प्रपाठक और पाँच खण्डों का है। इस ब्राह्मण में सामवेद के अरण्य गान व ग्रामगेय गान का वर्णन है।

८. वंश ब्राह्मण- यह भी लघु ही है, केवल तीन खण्ड का ही है। इसमें सामवेद के आचार्यों की वंश परम्परा दी गई है।

९. जैमिनीय ब्राह्मण- इस ब्राह्मण का संकलन महर्षि व्यास के प्रसिद्ध शिष्य सामवेद के आचार्य जैमिनी और उनके शिष्य तवलकार का किया हुआ है। इसके मुख्य तीन भाग है। पहले में तीन सौ साठ खण्ड, दूसरे में चार सौ सैंतीस और तीसरे में तीन सौ पिच्चासी खण्ड हैं।

१०. जैमिनीय आर्षेय और **११. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण**- ये

ग्यारह सामवेद के ब्राह्मण मिलते हैं।

अथर्ववेद का एक ही ब्राह्मण '**गोपथ ब्राह्मण**' उपलब्ध होता है। इस ब्राह्मण के पूर्व और उत्तर दो भाग हैं। पूर्व भाग में पाँच प्रपाठक और उत्तर में छः प्रपाठक हैं, कुल मिलाकर ग्यारह प्रपाठक का यह ब्राह्मण है। इसमें एक ही स्थान पर बहुत यज्ञों के नाम लिखे हुए हैं। इसमें मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण का एक ही स्थान पर उल्लेख है। इसके पूर्व भाग में विपाट् नदी के मध्य में बड़ी-बड़ी शिलाओं पर वशिष्ठ के आश्रमों का वर्णन है। यह अनेक प्राचीन साम्राज्यों का कथन करता है। यही ब्राह्मण ओंकार की तीन मात्राओं का वर्णन करता है।

चारों वेदों के ये अठारह ब्राह्मण उपलब्ध हैं। इनका विषय है- आत्मा का अस्तित्व और पुनर्जन्म, अमर आत्मा, परमेश्वर (प्रजापति), तीन लोक, मानव आयु व उसके पूर्ण भोगने के उपाय, सुखी गृहस्थ, गृहस्थ में स्त्री का स्थान, विवाह, सत्य, पाप का स्वरूप, यज्ञ का स्वरूप, यज्ञों के मुख्य भेद, यज्ञ तथा पाप विमोचन, यज्ञ और बलिदान व देवता, आपः (जल) का विषय, हिरण्यगर्भ= तेजोमय महद् अण्ड का वर्णन, अग्नि का स्वरूप, वृष्टि का वर्णन, वर्षा, समुद्र, सूर्य, प्राणायाम का कथन, पृथिवी का इतिहास अर्थात् आर्द्रा (शिथिल पृथिवी), आर्द्रा पृथिवी पर क्रमशः सृष्टियाँ - फेन, मृत ऊष, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयः और हिरण्यम् औषधि वनस्पति का प्रादुर्भाव, आग्नेयी पृथिवी, अग्निगर्भा पृथिवी, परिमण्डला पृथिवी, अयस्मयी पृथिवी, सर्व राज्ञी पृथिवी आदि, अन्तरिक्ष मरुत, अन्तरिक्षस्थ पशु, धातुओं को टाँका लगाना, रेखागणित व स्वर्ग- ये सारे इन ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय हैं, अर्थात् इतने विषयों का ज्ञान कराने वाले ये हैं।

कुछ अनुपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम भी मिलते हैं, इनके विषय में विस्तार से जानने के लिए विद्वान् पण्डित भगवद्दत्त जी द्वारा लिखित विशेष ग्रन्थ 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' तृतीय खण्ड देखना चाहिए।

हमने भी यह सब इसी ग्रन्थ को देखकर लिखा है।

(ख) महर्षि दयानन्द के अनुसार वेद को ही श्रुति कहते हैं, इस आधार पर श्रुतियों की संख्या चार ही रहेगी अर्थात् श्रुतियाँ चार हैं। महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के वेदोत्पत्ति विषय में प्रश्नोत्तर पूर्वक लिखते हैं-

"प्रश्न- वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं? उत्तर- अर्थभेद से। क्योंकि एक 'विद' धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा 'विद' सत्तार्थ है, तीसरे 'विदलृ' का अर्थ लाभ हैं, चौथे 'विद' का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है तथा 'श्रु' धातु श्रवण अर्थ में है। इससे करण कारक में 'क्तिन्' प्रत्यय के होने से 'श्रुति' शब्द सिद्ध होता है। जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक्संहितादि का वेद नाम है। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब विद्याओं को सुनते आते हैं, इससे वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ा है, क्योंकि किसी ने वेदों के बनाने वाले देहधारी को साक्षात् कभी नहीं देखा। इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और सुनते-सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं।"

महर्षि के इन वचनों से स्पष्ट हो रहा है कि वेद ही श्रुति है। अब रही नाम की बात तो वह भी सरलता से पता चलता है, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये श्रुतियों के नाम हैं।

इन श्रुतियों का सृजन कर्त्ता कोई देहधारी मनुष्य नहीं था। इनका सृजन कर्त्ता तो निराकार, सर्वज्ञ परमेश्वर ही है। इनका ज्ञान परमेश्वर ने आदि सृष्टि में ऋषियों को दिया। किन ऋषियों ने कब इस श्रुतिरूपी ज्ञान को लिपिबद्ध

किया अर्थात् लिखा, इसका इतिहास प्राप्त नहीं है, अर्थात् हम यह नहीं बता सकते कि इनको लिखने वाले ऋषि कौन थे और इनको किस समय लिखा।

इनमें किस विषय का ज्ञान है, इसको विस्तार से जानने के लिए महर्षि दयानन्द द्वारा लिखित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का अध्ययन करें।

श्रुति के विषय में हमने महर्षि दयानन्द की मान्यता को रखा, जिसको हम भी स्वीकारते हैं। अब अन्य विद्वानों की मान्यता को यहाँ थोड़ा लिखते हैं। कुछ विद्वान् श्रुति से मन्त्र भाग व ब्राह्मण भाग दोनों लेते हैं, अर्थात् मूल वेद और उसके व्याख्या ग्रन्थ शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ। उनका कहना है- '**श्रूयतेऽनया सा श्रुतिः**' जिससे अर्थ को सुना जाये अर्थात् जाना जाये। ऐसी व्याख्या करके वे दोनों अर्थ ग्रहण करते हैं।

ऐसी मान्यता वाले विद्वान्, जब कभी श्रुति की बात आती है तो व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मणों का भी प्रमाण मानते हैं, जबकि महर्षि दयानन्द श्रुति से वेद को प्रमाण मानते हैं। इस विषय में आर्यसमाज के योग्य विद्वान् पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी ने भी अपना विचार रखा है, वे लिखते हैं- "हमारे विचार से 'श्रुति' शब्द का प्रधान अर्थ गुरु परम्परा से नियमतः अधीयमान मन्त्रों का ही है, परन्तु व्याख्येय-व्याख्यानसम्बन्ध रूप लक्षणा से इनका प्रयोग ब्राह्मण वचनों के लिए भी होता है।"

(ग) अब तक कितने मनु हुए? इस विषय में सर्वांशरूप से तो कुछ नहीं कह सकते। मनु नाम के कितने ऋषि वा मनुष्य हुए, यह कहना कठिन है। हाँ, मनुस्मृति के रचनाकार महर्षि मनु वा स्वायम्भुव मनु का इतिहास तो अनेकत्र उपलब्ध होता है, जो कि आदि सृष्टि में हुए हैं, किन्तु और कितने तथा कौन-कौन नाम वाले मनु हुए, इसका इतिहास प्राप्त नहीं है। हाँ, अनार्ष ग्रन्थ भागवत पुराण में चौदह मनुओं का व उनके पुत्रादि का वर्णन मिलता है, किन्तु यह तो उनकी कल्पना ही लगती है।

मन्वन्तर रूपी काल के नाम तो उपलब्ध हैं, जैसे दिनों के नाम रवि, सोम एवं महीनों के नाम चैत्र, ज्येष्ठ आदि हैं, उसी प्रकार चौदह मन्वन्तरों के भी नाम हैं- १. स्वायम्भुव, २. स्वरोचिष, ३. उत्तम, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ९. दक्षसावर्णि, १०. ब्रह्मसावर्णि, ११. धर्मसावर्णि, १२. रुद्रसावर्णि, १३. देवसावर्णि, १४. इन्द्रसावर्णि। ये मनु हैं, अथवा ये चौदह मन्वन्तर के नाम हैं।

इस विषय में अनार्ष ग्रन्थ भागवत पुराण में लिखा है-

राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते।
प्रोक्तन्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः।।

- ८.१३.३६

हे राजन्! ये चौदह मन्वन्तर भूत, वर्तमान और भविष्य- तीनों ही कालों में चलते रहते हैं। इन्हीं के द्वारा एक सहस्र चतुर्युगी वाले कल्प के समय की गणना की जाती है।

ये चौदह नाम मनु के मिलते हैं और ये समय (काल) के नाम हैं। काल जड़ है, चेतन नहीं है। जड़ होते हुए ये चेतन की भाँति किसी प्रकार का ज्ञान देने में असमर्थ हैं, ज्ञान नहीं दे सकते।

(घ) आपने कहा 'उपनिषदों में किस प्रकार का ज्ञान है? वह नहीं मिलता अर्थात् क्या विषय है, यह नहीं मिलता' यह कहना उपयुक्त नहीं, क्योंकि उपनिषदों को पढ़ने से इनमें आये विषय का स्पष्ट ज्ञान होता है। उपनिषदों में मुख्य आत्मा-परमात्मा का विषय है। आत्मा व परमात्मा के स्वरूप को उपनिषद् बताते हैं। इनकी प्राप्ति कैसे होती है, यह उपनिषद् बताते हैं, प्रकृति का वर्णन भी उपनिषदों में आया है। पुनर्जन्म, सूक्ष्मशरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि इन सबके विषय में उपनिषद् वर्णन करते हैं। इतना सब उपनिषदों से ज्ञात होता है, इससे आप उपनिषदों के विषय को जान सकते हैं।

(ङ) चारों वेद ज्ञान के भण्डार हैं, यह ठीक है, चारों ही वेदों का बराबर महत्त्व है। वेदों के अपने विषय हैं- ज्ञान, कर्म, उपासना, विज्ञान, इनमें से किसी को सभी प्रिय हो सकते हैं और किसी को एक या दो। हो सकता है, जिस समय कृष्ण जी ने यह कहा, उस समय उनको उपासना प्रिय हो, जो कि सामवेद का विषय है।

आपको बता दें कि साम नाम केवल सामवेद का ही नहीं है, अपितु चारों वेदों में जो ऋचाएँ स्वर सहित गाई जाती हैं, उनका नाम साम है। इस आधार पर केवल सामवेद ही विभूति नहीं है, अपितु चारों वेदों में गायी जाने वाली सभी ऋचाएँ विभूति हैं। श्रीकृष्ण जी योगीराज थे, योगीजन उपासना प्रिय होते हैं, उपासना की दृष्टि से उन्होंने सामवेद को अधिक महत्त्व दिया होगा।

जिज्ञासा ५ – द्वितीय समुल्लास पुनः पढ़ने पर भी **'मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान्'** विषयक शंका निर्मूल नहीं हुई। 'मातृ' और 'पितृ' शब्द के साथ 'मान्' का प्रयोग है, परन्तु 'आचार्य' शब्द के साथ 'वान्' का प्रयोग किस कारण से किया गया है, मेरी जिज्ञासा यह थी। कृपया, उचित परामर्श देकर कृतार्थ करेंगे, जिससे दूसरों को भी लाभ मिले।

– **सत्यदेव, बिहार–८०५१२१**

समाधान – **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'**- यह ब्राह्मण ग्रन्थ का वाक्य है। आपकी जिज्ञासा इसमें आये 'मान्' और 'वान्' को लेकर है। जिज्ञासा का कारण संस्कृत भाषा का ठीक से ज्ञान न होना है। व्याकरण की रीति से यहाँ तीनों शब्दों में **'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'** अष्टा. ५.२.९४। सूत्र लगा हुआ है। इसका है अथवा इसमें यह है, इस अर्थ में मतुप् प्रत्यय हुआ है। व्याकरण में स्थान विशेष पर 'मतुप्' के 'म' को 'व' हो जाया करता है। **'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः'** अष्टा. ८.२.९। इस सूत्र से 'म' को 'व' हो जाता है। जहाँ मकारान्त शब्द

से 'मतुप्' प्रत्यय हुआ हो, वहाँ 'मतुप्' के 'म' को 'व' हो जाता है। अकारान्त शब्द से 'मतुप्' हुआ हो वहाँ भी 'व' हो जाता है। यह हमने सूत्र का आधा प्रयोग लिखा है। मातृ, पितृ शब्द न तो मकारान्त हैं और न ही अकारान्त हैं, इसलिए यहाँ मतुप् प्रत्यय के मकार को वकार नहीं हुआ, न होने के कारण 'मातृमान्', 'पितृमान्' इस रूप में रहे, किन्तु आचार्य शब्द अकारान्त है, सो अकारान्त होने से मतुप् के 'म' को 'व' होकर 'आचार्यवान्' बना। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत भाषा का अभ्यास करें।

जिज्ञासा ६– 'गीता के अध्यायों में आर्यसमाज' आलेख 'परोपकारी' मई (प्रथम) २०११ में प्रकाशित होने के बावजूद, गीता को आर्ष ग्रन्थ क्यों नहीं माना जा रहा है? आर्ष ग्रन्थ किसे कहते हैं?

रमेश बंसल, ।।।/०६, बीसलपुर प्रोजेक्ट कॉलोनी, टोंक रोड, देवली-३०४८०४ (राज.)

समाधान – 'गीता के अध्यायों में आर्यसमाज' यह लेख लेखक ने गीता की वेदानुकूल बातों को लेकर लिखा था। आपको बता दें कि गीता एक स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, यह महाभारत के भीष्म पर्व का कुछ भाग है। महाभारत मूलरूप से महर्षि व्यास का बनाया हुआ है। महर्षि व्यास ने इसको लगभग ५ हजार श्लोकों में रचा था। कालान्तर में महर्षि के शिष्यों ने ५ हजार श्लोक और बढ़ाकर इसको १० हजार श्लोक युक्त कर दिया था। १० हजार श्लोक युक्त को तो कुछ ठीक मान सकते हैं, किन्तु आज तक आते-आते यह एक लाख से ऊपर श्लोकयुक्त मिलता है। महाभारत में लगभग ९० हजार श्लोकों का प्रक्षेप हुआ जो अवैदिक और अनैतिक बातों से युक्त है। हमने कहा- गीता स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, जब महाभारत में मिलावट है तो इसमें भी है, इसलिए मिलावट युक्त गीता को आर्य विद्वान् आर्ष ग्रन्थ नहीं कहते। हाँ, यदि गीता में जो सिद्धान्त विरुद्ध बातें हैं उनको हटा विशुद्ध कर दिया जाये तो इसको भी आर्ष ग्रन्थ कहा जा

सकता है, क्योंकि मूल रचना ऋषि की है। ऋषि द्वारा रचित, लिखित, प्रणीत ग्रन्थ को आर्ष ग्रन्थ कहते हैं, साधारण मनुष्य कृत रचना को नहीं।

वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।।

– द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम, सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ वेद ही का अभ्यास करे। जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है, इससे ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर अवश्य वेदविद्याध्ययन करे।।

– महर्षि दयानन्द सरस्वती संस्कार विधि



परम्परा

जिज्ञासा १- बहुत से संन्यासी अपने नाम के साथ 'सरस्वती' लगाते हैं। क्या यह एक उपाधि है या सम्मान है जो किसी संस्था के द्वारा प्रदान किया जाता है? सरस्वती का सामान्य अर्थ है- विद्या की देवी सरस्वती-जैसा विद्वान् होना। कृपया, खुलासा कर कृतार्थ करें। क्या संन्यासी के अलावा दूसरे किसी गृहस्थ विद्वान् को यह सम्मान चिह्न लगाने का अधिकार नहीं है?

इसी तरह आचार्य के विषय में भी है। आचार्य की परिभाषा क्या है? क्या कोई भी आचार्य लिख सकता है? किसी संस्था शिक्षण संस्था के प्राध्यापक को भी आचार्य कहा जा सकता है। एक विद्वान् को भी सम्मानार्थ आचार्य कहकर पुकारा जा सकता है।

डॉ. एस.एल. वसन्त, बी-१३८४, नागपाल स्ट्रीट,
फाजिलका, पंजाब

समाधान- आपकी जिज्ञासा सरस्वती व आचार्य पर है। दसनामी संन्यासियों में गिरी, पुरी, भारती, अरण्य, पर्वत, सागर, समुद्र, वन, सरस्वती और तीर्थ ये सब हैं। ये गिरी, पुरी आदि उपाधियाँ हैं। जो कोई संन्यास लेने वाला, जिस उपाधि से युक्त संन्यासी से संन्यास ग्रहण करता है, वह भी अपने संन्यास गुरु वाली उपाधि को अपने नाम के पीछे लगाना आरम्भ कर देता है। इस प्रकार की उपाधि किसी संस्था से प्रदान नहीं की जाती है, इसमें तो संन्यास गुरु ही मुख्य कारण है। सरस्वती शब्द का अर्थ है-

सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती

अर्थात् जिसको विविध विज्ञान अर्थात् शब्द, अर्थ, सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे, उसको सरस्वती कहते हैं। इस प्रकार सरस्वती अर्थ के अनुसार कोई मनुष्य भी हो सकता है और परमेश्वर के अनन्त नामों में से यह एक नाम तो है ही। संन्यासी ही इन उपाधियों को लगाते हैं, अन्य

गृहस्थ आदि नहीं।

आचार्य विद्या पढ़ाने वाले, शिक्षा देने वाले को कहते हैं, जिसके प्रति हमारा सम्मान का भाव रहता है। आचार्य की परिभाषा हमारे ऋषियों ने इस प्रकार की है-

१. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।।

मनु. २.१४०

जो यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र (वेदोक्त यज्ञादि का निरूपण कराने वाली विद्या) और वेदान्त सहित शिष्य को वेद पढ़ावे, उसे आचार्य कहते हैं।

२. आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा।

नि. १.२.१

जो आचार को ग्रहण करावे, शास्त्र के अर्थों का ज्ञान करावे और बुद्धि का ग्रहण करावे उसको आचार्य कहते हैं।

३. जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह आचार्य कहाता है।

यदि उपरोक्त परिभाषा के अनुसार किसी शिक्षण संस्थान के प्राध्यापक हैं और कोई अन्य विद्वान् हैं, उनको सम्मानार्थ आचार्य कहकर पुकारा जा सकता है। आचार्य बनने के लिए वर्षों तपस्या पूर्वक गुरुकुल में गुरु की आज्ञापालन करते हुए विद्या अध्ययन करना होता है। अपने अन्दर अनेक सद्गुणों का विकास करना होता है। **आचार्य दो-चार दिन अथवा एक-दो सप्ताह में तैयार नहीं होते हैं।**

जिज्ञासा २- मेरे मन में एक छोटी-सी शंका है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के आगे स्वामी और बाद में सरस्वती क्यों लगाते हैं? उसका अर्थ क्या है?

सत्यार्थप्रकाश उर्दू में परोपकारिणी सभा से मिल सकता है क्या ?

- एन. रणवीर, नलगोंडा, तेलंगाना

समाधान - महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के आगे तो स्वामी इसलिए लगाते हैं, क्योंकि वे संन्यासी थे, संन्यासी के लिए यह शब्द आदर के लिए लगाया जाता है। यह शब्द संन्यासी के लिए रुढ़-सा हो गया है। इसका अर्थ स्वत्वाधिकारी होता है, अर्थात् अपने आपका अधिकारी। चूँकि संन्यासी स्वत्वाधिकारी होता है, इसलिए उनके नाम के आगे स्वामी लगाते हैं। स्वामी का एक अर्थ उच्च कोटि का धार्मिक पुरुष होता है।

दूसरी सरस्वती लगाने वाली बात- आचार्य शंकर से दसनामी संन्यासियों की परम्परा चली आयी है, उनमें से एक सरस्वती भी है। स्वामी दयानन्द जी ने सरस्वती परम्परा वाले संन्यासी से संन्यास दीक्षा ग्रहण की थी, इसलिए संन्यास गुरु परम्परा अनुसार स्वामी दयानन्द के पीछे (सरस्वती) लग गया। इस सरस्वती शब्द का अर्थ महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में दिया है-

सरौ विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चित्तौ सा सरस्वती।

जिसको विविध विज्ञान अर्थात् शब्द सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे, उसको सरस्वती कहते हैं। विद्या, वाणी आदि का नाम भी सरस्वती है। ऊर्दू में सत्यार्थ प्रकाश अभी सभा के बिक्री विभाग में नहीं है, आगे सम्भावना है कि उपलब्ध हो जाये।

जिज्ञासा ३ - कुछ आर्य समाजी अपने नाम के साथ आर्यरत्न लिखते हैं, यह कहाँ तक उचित है ?

- डॉ. लक्ष्मणसिंह टाँक, पूर्व प्राचार्य, ५१ देवपुरम्, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

समाधान - जिन आर्य समाजियों को, आर्यों को उनकी योग्यता के अनुसार किसी संस्था विशेष ने आर्यरत्न की उपाधि से विभूषित किया है

तो वह अपने नाम के पीछे आर्यरत्न लगा सकता है, इसमें कोई हानि नहीं है। जैसे किसी ने महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदि से जो एम.ए., एम.टेक, डी.लिट्., एडवोकेट, डॉक्टर आदि उपाधियाँ प्राप्त की हैं, उनको वह अपने नाम के आगे-पीछे लगा सकता है और भी-जैसे शास्त्रीय जगत् में जिसने जो शास्त्र पढ़े हैं, उसके कारण उनको जो व्याकरणाचार्य, दर्शनाचार्य, न्यायरत्न, मीमांसक, विद्यावारिधि, विद्यावाचस्पति आदि उपाधियाँ प्राप्त की हैं, उनको अपने नाम के आगे-पीछे लगाते हैं, लगा सकते हैं। हाँ, ये उपाधियाँ दूसरों को अपने परिचय के लिए लगाना तो हो सकता है, किन्तु इनको दिखावे, प्रदर्शन, ऐषणा पूर्ति के लिए लगाना ठीक नहीं। इसी प्रकार आर्यरत्न की बात है, इसको भी ऐसे ही समझना चाहिए।

जिज्ञासा ४ - आर्यसमाजों में सत्संग के अन्त में 'जय घोष' के नारे लगाए जाते हैं जैसे- 'आर्य समाज- अमर रहे', 'वेद की ज्योति- जलती रहे', 'ओ३म् का झण्डा- ऊँचा रहे' आदि। आज कल कुछ आर्य समाजी इसको 'आर्य समाज- अमर रहेगा', 'वेद की ज्योति- जलती रहेगी', 'ओ३म् का झण्डा- ऊँचा रहेगा' का उच्चारण करते हैं। आपकी प्रतिक्रिया व निर्देश अपेक्षित है।

रवि आर्य, म.नं. २-बी, सड़क-५१, सेक्टर-८, भिलाई (पश्चिम), छत्तीसगढ़-४९०००९

समाधान - एक पक्ष आर्यसमाज अमर रहे, वेद की ज्योति जलती रहे आदि, दूसरा पक्ष आर्य समाज अमर रहेगा, वेद की ज्योति जलती रहेगी, ओ३म् का झण्डा ऊँचा रहेगा आदि। इन दोनों पक्षों में अन्तर 'रहे' और 'रहेगा' का है। 'रहे' बोलने वाला कामना कर रहा है, कर रहा हो, कर सकता है कि वर्तमान व भविष्य में ओ३म् का झण्डा ऊँचा रहे, वेद की ज्योति जलती रहे। उसकी यह कामना परमेश्वर से हो सकती है और वर्तमान के आर्यवीरों, विद्वानों आदि से भी हो सकती है कि वे ऐसा कार्य

करें, पुरुषार्थ करे, विद्वान् इतना वैदिक प्रचार करें कि वेदमत जगत् भर में फैल जाये, जिससे ओ३म् का झण्डा ऊँचा 'रहे'। परमेश्वर हमें इतनी सामर्थ्य प्रदान करे कि हम अत्यन्त पुरुषार्थी होकर वेदमत माने व मनवावें जिससे ओ३म् का झण्डा सदा ऊँचा 'रहे'। दूसरा 'रहेगा' बोलने वाला भावुकता में दृढ़ता दिखाता हुआ बोल रहा कि ऊँचा 'रहेगा'। सिद्धान्त: दोनों को बोलने में कोई हानि नहीं है।

मनुष्य स्वतन्त्र चेतन प्राणी है वह फेर बदल कर सकता है, किन्तु इस स्वतन्त्रता से मनमानी न होने लग जाये इसके लिए किसी एक नियम में बँधना चाहिए, बँधना होता है। यहाँ भी इस 'रहे' व 'रहेगा' में एकरूपता के लिए एक ही होवे तो अधिक उचित है। इन दोनों में से जो परम्परा से चला आ रहा 'रहे' है, वही ठीक है, अन्यथा कुछ भी विकृति आने लगती है। जैसे- एक नारा बोलते हैं 'गो माता की जय हो' यह नारा अपनी जगह ठीक है, क्योंकि इस 'जय' में गाय के लिए जो उचित है वह सब आ गया। किन्तु इसको बदलते-बदलते बोलने लग गये 'गो माता का पालन हो, पालन करो, रक्षा हो' आदि। अब इसको यदि ऐसे ही बदलते रहे तो धीरे-धीरे 'गो माता को चारा डालो, पानी पिलाओ, इनके लिए भवन बनवाओ' आदि नारे भी बोलने लग जायेंगे, इसलिए एकरूपता के लिए 'जय हो, अमर रहे, जलती रहे, ऊँचा रहे' आदि उचित है।

जिज्ञासा ५- अभिवादन करते समय कुछ लोग पैर छूते हैं- क्या इसका कोई वैदिक प्रमाण है? सत्यार्थप्रकाश और महर्षि दयानन्द के दूसरे बहुत से लेखों जैसे कि- 'व्यवहारभानु' में अभिवादन करते समय 'पैर छूने' का वर्णन नहीं है। मेरे विचार में 'पैर छूना' किसी भी वेद या सम्बन्धित आर्षग्रन्थ द्वारा स्वीकृत नहीं है। यह अमानवीय है और पैर छूने वाले व्यक्ति को हीन बनाना है।

कृपया, मुझे अपना विचार दें और उचित वैदिक उद्धरण यदि ऐसा

उल्लेखित है तो बतायें।

- दीन बी. चन्दौरा

समाधान - परस्पर व्यवहार करते समय हम शिष्टाचारवश एक-दूसरे को अभिवादन करते हैं। वह अभिवादन किसके साथ किस प्रकार करें कि जिससे हमारी यथायोग्य व्यवहार कुशलता सिद्ध होवे। इसके लिए हमारे ऋषियों ने संकेत किये हैं। हम अपने बड़ों, छोटों, समान वालों से उनकी योग्यतानुसार सम्मानपूर्वक यथायोग्य अभिवादन करें। हम कैसे करते हैं, यह हमारी व्यवहार कुशलता पर निर्भर करता है। छोटों और समान वालों को छोड़कर अपने बड़ों अर्थात् आचार्य, विद्वान्, माता-पिता, योग्य संन्यासी आदि को अभिवादन कैसे करें, तो हमारा विचार है कि पैर छूकर करना अच्छा है।

प्राचीन इतिहास ग्रन्थों, धर्म शास्त्रों, सूत्र ग्रन्थों में बड़ों के पैर छूना लिखा हुआ है। मनु स्मृति, सूत्र ग्रन्थ में विधान है कि शिष्य अपने आचार्य को चरण स्पर्श-पूर्वक अभिवादन करे। चरण स्पर्श कैसे करें, यह भी लिखा हुआ है। प्रमाणार्थ हम यहाँ उनको दे रहे हैं-

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः।।

मनु. २.४७

(गुरोः उपसंग्रहणम्) गुरु के चरणों का स्पर्श (व्यत्यस्तपाणिना कार्यम्) हाथों को अदल-बदल करके करना चाहिए अर्थात् प्रणामकर्त्ता का बायाँ हाथ नीचे कर गुरु के बायें पैर का स्पर्श करें और उसके ऊपर से दायाँ हाथ दायें चरण को स्पर्श करे। (सव्येन सव्यः) बायें हाथ से बायाँ चरण (च) और (दक्षिणेन दक्षिणः) दायें हाथ से दायाँ पैर (स्प्रष्टव्यः) स्पर्श करना चाहिए। इसी प्रकार का विधान सूत्र ग्रन्थ में किया है- दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पादमधस्तादभ्यधिमृश्य सकुष्टिकमुपसंगृह्यात्।।

आप.सू.दि.प. २१।

और भी

स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत्।
ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः।।

रा.अ.का. १८.२

श्री राम ने पहले पिता के चरणों में विनयपूर्वक अभिवादन किया, फिर अच्छे प्रकार समाहित राम ने माता कैकयी के चरण छूए। यह प्रसंग कैकयी द्वारा राम को कोप भवन में बुलाये जाने का है। ये उपरोक्त सभी आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण हैं, इसलिए यह कहना उचित नहीं कि पैर छूना वेद या सम्बन्धित आर्षग्रन्थ द्वारा स्वीकृत नहीं।

अपने बड़ों से कैसे हम शिष्टाचार पूर्वक व्यवहार करें, वह सब मनुस्मृति धर्मशास्त्र में दिया हुआ है। अपने बड़ों को अभिवादन दूर से न करें, समीप आकर सामने से करें, बैठे-बैठे अथवा लेटे हुए न करें, खड़े होकर, झुक कर अभिवादन करें, अधिक ऊँची आवाज में बोलते हुए न करें आदि विधान शिष्टाचार के हैं। कोई व्यक्ति परिस्थिति न होने पर भी दूर से ही अभिवादन करता है, कोई समीप आकर, कोई समीप आकर भी बिना हाथ जोड़े केवल बोलकर करता है, कोई हाथ भी जोड़ लेता है, कोई हाथ जोड़ गर्दन झुकाकर अभिवादन करता है, कोई और अधिक नतमस्तक होकर, कोई पैर छूने के लिए एक हाथ घुटनों तक ले जाकर, कोई पैरों तक हाथ ले जाकर और कोई दोनों हाथों से श्रद्धा पूर्वक पैर छूकर अभिवादन करता है। ये सब उपाय लोगों के अपने-अपने हैं, इनमें से जो श्रेष्ठ व आदर्श हो, उसको हम अपना लेवें।

अपने बड़ों के पैर छूना कर्म अमानवीय नहीं है, अपितु यह तो मानवोचित कर्म ही है। कोई बलात् पैर छुवाता हो अथवा छूने के लिए कहता हो, तब तो अमानवीय या हीन बनाना कह सकते हैं। हाँ, बच्चों के

लिए तो सिखाने की दृष्टि से बलात् भी चल सकता है। देने वाला और वह भी सम्मान देने वाला निश्चित रूप से हीन नहीं है, उसमें मानवीयता है। जो जितना अधिक यथायोग्य सम्मान अपने बड़ों को देता है, वह उतना ही अधिक सभ्य व शिष्ट कहलाता है। सम्मान करने वाला (पैर छूने वाला) कभी हीन नहीं बनता, अपितु ऐसा करने से उसका अहंकार नष्ट होकर उसमें सरलता आती है, जिससे वह हीन न बनकर और अधिक उच्च बनता है। हीन तो तब बनाना होता, जब उसके द्वारा सम्मान करने, पैर छूने पर, सामने वाला उसकी उपेक्षा कर रहा हो, उससे मुँह फेर रहा हो, बात न करना चाहता हो, यदि ऐसा नहीं है तो उसको हीन बनाना भी नहीं है। हीन तो कहते हैं छोड़े हुए को, परित्यक्त को, नीच-अधम को, अंगहीन को, जो अपने यज्ञानुष्ठान में अवहेलना करता है उसको, सदोष साक्षी देने वाले को, मूक व्यक्ति को, नीच व्यक्तियों से मेलजोल और उनकी सेवा करने वाले को। ये सब हीन कहलाते हैं। पैर छूकर अभिवादन करने वाला इन किसी में नहीं आता, अतः वह हीन नहीं है। किसी सूक्तिकार की दृष्टि में हीन पाँच प्रकार के हैं-

अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थायी निरुत्तरः।
आहूतप्रपलायी च हीनः पंचविधः स्मृतः।।

समान वार्ता का तात्पर्य यही है कि हम अपने बड़ों का सत्कार, पैर छूना आदि करके कर सकते हैं, करना चाहिए फिर भी यदि किसी को यह कार्य अमानवीय व दबाना, हीन बनाना लगे व दिखे तो वह कार्य को न करे।

जिज्ञासा ६- स्त्री वर्ग द्वारा अभिवादन करने या आशीर्वाद लेने के लिए पति से भिन्न पुरुष के पैर छूने की स्वीकार्यता है या नहीं? यदि है तो कहाँ और कैसे? जैसे-

(क) क्या पुत्री को पिता या पितामह आदि पारिवारिक बड़ों के पैर

छूने चाहिए?

(ख) क्या छात्रा को अपने पुरुष अध्यापक/आचार्य के पैर छूने चाहिए?

(ग) क्या बहु को पति-परिवार के बड़े पुरुषों के पैर छूने चाहिए?

(घ) क्या स्त्री-वर्ग को अपने आध्यात्मिक-गुरु (पुरुष) के चरण लेने चाहिए?

प्रश्न इसलिए उत्पन्न हुआ, क्योंकि एक आचार्य कहलाने वाले, श्वेतवस्त्रधारी आकर्षक व्यक्तित्व ने क्षेत्र में लगातार अस्सी घरों में यज्ञ कराये, यज्ञोपरान्त तालियाँ बजाकर- ओं नमः शिवाय। ओं नमो नारायणाय। ओं नमः ठाकुराय..... कीर्तन कराया। मनोकामना पूर्ण, दुःख-विनाश और रोग निवारण का आश्वासन आँख बन्द कर ध्यान कराते हुए दिया। अन्त में पंक्तिबद्ध स्त्री-पुरुषों से चरण छूकर शिष्यों द्वारा पूज्य गुरुदेव से आशीर्वाद लेने की घोषणा प्रत्येक कार्यक्रम में होती रही। कुछ गुरुडम कह बाहर निकल जाते, कुछ गुरु भक्त व भक्तिनियाँ ऐसा ही करती रहीं।

- श्यामसिंह सहयोगी, उमाही कलाँ, सहारनपुर, उ.प्र.

समाधान - स्त्री वर्ग द्वारा पति से भिन्न पुरुष, अपने निकट के पारिवारिक धार्मिक वयोवृद्ध जन के पैर छूने की स्वीकार्यता प्रतीत होती है। रामायण आदि इतिहास ग्रन्थों में इसका वर्णन आता है, हम यहाँ इसके लिए एक प्रमाण दे रहे हैं-

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
उपसंगृह्य राजानं चक्रुर्दीनाः प्रदक्षिणम्।

रा.अ.का. ३३.१

यह श्लोक राम के वनवास के समय का है, इसमें कहा है- दुःखी राम, लक्ष्मण और सीता ने हाथ जोड़ चरण स्पर्श कर, दशरथ को प्रणाम किया तथा उनकी प्रदक्षिणा की। यहाँ सीता के द्वारा भी दशरथ के चरण

स्पर्श की बात है जो कि उनके श्वसुर हैं। इसी प्रकार पितृपक्ष में धार्मिक जन को प्रणाम किया जा सकता है।

वैदिक दृष्टिकोण से तो छात्राओं को स्त्री आचार्या, अध्यापिका ही पढ़ावें, यह विधान है। कन्याओं को पुरुष आचार्य पढ़ावे, यह विधान ही नहीं है, फिर भी यदि ऐसा है तो छात्रा उस पुरुष आचार्य के पैर न छूकर दूर से आदरपूर्वक प्रणाम कर लेवे, यही उचित है। मनुस्मृति में जैसे ब्रह्मचारी को गुरुपत्नी के पैर छूने का निषेध है, ऐसे ही यहाँ भी समझें-

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता।।

मनु. २.१८७

गुण दोष को समझने वाला युवक ब्रह्मचारी, युवती गुरु पत्नी के चरण स्पर्श कर अभिवादन न करे, अर्थात् बिना चरण स्पर्श किये ही अभिवादन करे। इससे ब्रह्मचारिणी (छात्रा) का भी विधान समझें कि वह भी आचार्य को दूर से अभिवादन करे और इसी प्रकार आचार्या-पति को भी दूर से ही अभिवादन करें।

ऋषियों के जीवनाचरण को देखते हुए आदर्श पुरुष गुरु स्त्रियों को अपने चरण छूने ही नहीं देगा, वह स्वयं ही ऐसा उपदेश करेगा कि कोई स्त्री उसके पैर न छुए। स्त्रियों को भी चाहिए कि वे भी उसके पैर न छुएँ, इसी में दोनों की भलाई है। आजकल स्त्रियों द्वारा गुरुओं के पैर पड़ने का फैशन-सा बन गया है, जो बहुधा अनर्थकारी ही सिद्ध हो रहा है। हमारे कुछ वैदिक विद्वान् इस बात का कठोरता से ध्यान रखते हैं कि कोई स्त्री उनके पैर न छुए, कुछ इस विषय में अतिशिथिल रहते हैं, जो कि उचित नहीं।

महर्षि दयानन्द के जीवन में ऐसा कोई प्रसंग नहीं मिलता, जिसमें उन्होंने किसी स्त्री से पैर छुवाएँ हों। महर्षि के एक बार किसी स्त्री ने पैर

छू लिए थे, वह भी तब, जब महर्षि आँख बन्द कर ध्यान कर रहे थे। महर्षि को उस स्त्री का उनके पैर छूना इतना अखरा (बुरा लगा) कि उन्होंने तीन दिन तक निराहार मौन रहकर एकान्त में प्रायश्चित किया। महर्षि का तो हमारे सामने इतना ऊँचा आदर्श है। यदि कोई गुरु बनना ही चाहता है तो इस आदर्श को लेकर चले, तभी कुछ कल्याण है, अन्यथा तो महापतन है ही।

अब रही बात ऐसे आचार्य की जो तालियाँ बजवाकर नमः शिवाय, नारायणाय, ठाकुराय... आदि बुलवाकर कीर्तन करवाते हैं, मनोकामनापूर्ण, दुःख विनाश और रोग निवारण का आश्वासन देते हैं तो ऐसे लोग ऋषियों द्वारा दी गई विद्या का दुरुपयोग कर अपना अधम स्वार्थ सिद्ध किया करते हैं। ऐसे लोग ऋषियों के आदर्श व सिद्धान्त को हटाकर अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए वेद से विरुद्ध कार्य करने पर उतर आते हैं। पहले ही संसार में अविद्या को फैलाने वाले निर्मल बाबा जैसों की भरमार है, उसमें ये लोग और वृद्धि करते हैं।

विशुद्ध भावना से वैदिक वाङ्मय पढ़ने वाला ऐसा कार्य कदापि करेगा ही नहीं। यदि कर रहा है तो उसकी मनोवृत्ति शुद्ध नहीं। कहने को तो वह यही कहेगा कि मेरे इस कार्य से अधिक लोग जुड़ेंगे, अधिक लोगों का भला होगा, अधिक प्रचार होगा, किन्तु यथार्थता में वह व्यक्ति अपनी तुच्छ ऐषणाओं की पूर्ति करने वाला होता है। विद्या पढ़कर भी व्यक्ति ने समाज में अविद्या को ही फैलाया, बोलना सीखकर उसने समाज में भ्रम ही फैलाया तो उसका पढ़ना व बोलना व्यर्थ है, उसका ऐसा कहना, बोलना तो धिक्कार के योग्य ही है। ऐसों से सावधान रहना ही उपाय है।

इतिहास

जिज्ञासा १- मेरे मन में कुछ समय से दो प्रश्न बार-बार उठ रहे थे, उन्हें आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। कृपया, वैदिक मान्यतानुसार समुचित समाधान करें।

(क) राजस्थान पत्रिका में, रविवार को छोड़कर, नरेन्द्र कोहली का महाभारत के विषय में क्रमबद्ध लेख (महासमर) आता रहा है। उसमें पिछले अंकों में एक प्रसंग आया था, जिसमें दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा को श्री कृष्ण के पुत्र सांब अपहरण कर ले गया था। दुर्योधन उन दोनों को पकड़ कर वापिस हस्तिनापुर ले आया था। फिर बलराम ने बीच में पड़ कर उन दोनों को विवाह बन्धन में बाँध दिया। अधिक विस्तार न देकर मैं जानना चाहता हूँ कि यह सांब क्या सचमुच श्री कृष्ण का पुत्र था, जबकि आर्यसमाज के वक्ता प्रद्युम्न को ही एक मात्र श्री कृष्ण की सन्तान मानते है, वह भी बारह वर्ष की कठोर तपस्या के बाद।

(ख) वाल्मीकि रामायण के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि के विषय में नाना प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ देश में फैली हुई हैं। सभी धर्मों के अनुयायियों द्वारा एवं बच्चों की पाठ्य पुस्तकों में भी बच्चों को यही बताया व पढ़ाया जाता है कि वाल्मीकि पहले डाकू थे और मार्ग में आने-जाने वालों को लूट लेते थे। एक दिन कुछ साधुओं की टोली आई तो उनसे भी उसी प्रकार लूट-खसोट करने लगे। साधुओं ने उससे कहा- भाई पहले अपने घर वालों को तो पूछ लो कि तुम जो कर रहे हो, उसमें वे भी भागीदार हैं या नहीं? उसने घर जाकर पूछा तो उत्तर मिला कि तुम्हारे इस पाप कर्म के भागीदार हम नहीं हो सकते। उसी समय से उसने यह धन्धा छोड़ दिया और साधु हो गया। आर्यजगत् में भी कुछ विद्वान् ऐसे ही उदाहरण देते रहते हैं। परोपकारी मार्च द्वितीय पक्ष २०१४ के अंक में एक सज्जन श्री सुरेशचन्द्र त्यागी लिखते हैं कि राम सोमरस पीते थे, शराब नहीं।

यह सज्जन लिखते हैं कि वाल्का भील से बने महर्षि वाल्मीकि ने रामायण महाकाव्य लिखा है। इस भ्रान्त धारणा को दूर करने के लिए स्वामी जगदीश्वरानन्द द्वारा लिखित वाल्मीकि रामायण के बाल काण्ड द्वितीय सर्ग में सीता जी की पवित्रता की साक्षी को देते हुए ऋषि कहते हैं-

प्रचेतसोहं दशमः पुत्रो राघवनन्दनम्।
मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्विषम्।।

भावार्थ- हे राम! मैं प्रचेतस मुनि का दशम पुत्र हूँ। मैंने मन, वचन और कर्म से कभी पापाचार नहीं किया। इससे यह सिद्ध होता है कि जिसे डाकू कहते हैं, वह कोई और हो सकता है। एक नाम के लाखों लोग हो सकते हैं। समाधान करने की कृपा करें।

- रामकिशोर शर्मा, ८२/१५२, नीलगिरी मार्ग,
मानसरोवर, जयपुर-३०२०२० (राज.)

समाधान २ (क) - अनेक वक्ता, लेखक प्रमाणों के मूल तक न जाकर सुनी-सुनाई बातों को बोलते-लिखते रहते हैं, जिससे जनता के पास यथार्थ बातें न जाकर विपरीत ज्ञान जाता रहता है। आर्यसमाज की विशेषता यह है कि वह विशुद्ध ज्ञान का संवाहक है। आर्यसमाज के वक्ताओं को इसके अनुसार प्रमाणपूर्वक बोलना चाहिए। आपने आर्यसमाज के जिन भी वक्ताओं से सुना कि श्री कृष्ण जी के एक ही पुत्र प्रद्युम्न थे, यह उनके अधूरे ज्ञान का द्योतक है, क्योंकि महाभारत में श्री कृष्ण के तीन पुत्रों का स्पष्ट वर्णन आता है-

साम्बं च निहतं दृष्ट्वा चारुदेष्णं च माधवः।
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च ततश्चुक्रोध भारत।।

यह श्लोक महाभारत के मौसलपर्व के प्रथम अध्याय का है। इस श्लोक में श्री कृष्ण के तीन पुत्र साम्ब, चारुदेष्ण और प्रद्युम्न तथा एक पौत्र

अनिरुद्ध का वर्णन है। कोहली जी ने जो कृष्ण के साम्ब पुत्र का कथन किया है, सो ठीक है।

जैसे श्री कृष्ण के एक पुत्र के विषय में भ्रान्ति है, वैसे ही द्रौपदी के पाँच पति होने में भी भ्रान्ति है। लोक में प्रायः द्रौपदी को पाँच पतियों वाली कहा जाता है, जो कि एक नितान्त भ्रान्त धारणा है। यह धारणा भी सुन-सुनाकर लोगों में बनी चली गई, यदि महाभारत को ठीक से पढ़ा जाता तो यह धारणा न बनती। महाभारत में कहीं भी द्रौपदी को पाँच पतियों वाली नहीं कहा गया, हाँ उनके एक पति होने का तो वर्णन अवश्य है। देखिए-

तमब्रवीत् ततो राजा धर्मात्मा च युधिष्ठिरः।
ममषि दारसम्बन्धः कार्यस्तावद् विशाम्पते।।

तब धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ने द्रुपद से कहा- "राजन् विवाह तो मेरा भी करना होगा।"

यह सुनकर द्रुपद ने कहा-

भवान् वा विधिवत् पाणिं गृप्रातु दुहितुर्मम।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश।।

हे वीर! तब आप ही विधिपूर्वक मेरी पुत्री का पाणिग्रहण करें अथवा आप अपने भाइयों में से जिसके साथ चाहें, उसी के साथ कृष्णा को विवाह की आज्ञा दे दें। द्रुपद के ऐसा कहने पर-

ततः समाधाय स वेदपारगो, जुहाव मन्त्रैर्ज्वलितं हुताशनम्।
युधिष्ठिरं चाप्युपनीय मन्त्रविद् नियोजयामास सहैव कृष्णया।।

वेद के पारंगत विद्वान् मन्त्रज्ञ पुरोहित धोम्य ने वेदी पर प्रज्ज्वलित अग्नि की स्थापना करके उसमें मन्त्रों द्वारा आहुति दी और युधिष्ठिर को बुलाकर कृष्णा के साथ गठबन्धन कर दिया।

प्रदक्षिणं तौ प्रगृहीतपाणिकौ, समानयामास स वेदपारगः।
ततोऽभ्यनुज्ञाय तमाजिशोभिनं, पुरोहितो राजगृहाद् विनिर्ययौ।।

वेदों के पारंगत विद्वान् पुरोहित धोम्य ने उन दोनों दम्पति का पाणिग्रहण कराकर उनसे अग्नि की प्रदक्षिणा करवाई, फिर अन्य शास्त्रोक्त विधियों का अनुष्ठान कराके उनका विवाह कार्य सम्पन्न कर दिया। तत्पश्चात् संग्राम में शोभा पाने वाले युधिष्ठिर को निवृत्ति देकर पुरोहित जी भी उस राजभवन से बाहर चले गये। यह वर्णन महाभारत के आदि पर्व के ३२वें अध्याय में है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी न होकर केवल युधिष्ठिर की पत्नी थी।

(ख)- आपने ठीक समझा कि वाल्मीकि रामायण के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि कोई चोर-डाकू नहीं रहे, अपितु वे तो ऋषि परम्परा में पले-बढ़े हुए एक उच्च कोटि के विद्वान् थे। यदि वे चोर-डाकू होते तो यह बात कदापि न कहते-

प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन।
न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ।।
मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्विषम्।
तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली यदि।।

रघुकुल नन्दन! मैं प्रचेता (वरुण) का दसवाँ पुत्र हूँ। मेरे मुँह से कभी झूठ बात निकली हो, इसकी याद मुझे नहीं है। मैं सत्य कहता हूँ, ये दोनों आपके ही पुत्र हैं। मैंने मन, वाणी और क्रिया द्वारा भी पहले कभी कोई पाप नहीं किया है। यदि सीता निष्पाप हो, तभी मुझे उस पाप शून्य पुण्य कर्म का फल प्राप्त हो। इस आधार पर वाल्मीकि के विषय में जो कथा प्रचलित है कि प्रारम्भ में डाकू थे फिर ऋषि बने, यह कपोल कल्पना मात्र है। रामायण के रचयिता वाल्मीकि लाखों वर्ष पूर्व हुए हैं और इस अन्तराल में हजारों वाल्मीकि नाम के हुए होंगे, उनमें से वाल्मीकि नामक कोई एक डाकू होकर ऋषि बनाने हों, हो सकता है किन्तु वे रामायण वाले वाल्मीकि नहीं हैं।

जिज्ञासा २ - परोपकारी जून-प्रथम २०१२ के अंक में प्रकाशित "प्रथम बार आर्य परिवार में स्वयंवर आयोजन।" शीर्षक विज्ञापन में आये 'स्वयंवर' शब्द के विषय में यह निवेदन था कि सीता जी ने अपने पिताश्री की प्रतिज्ञा को पूरी करने वाले श्री राम का वरण किया था, न कि स्वयं की प्रतिज्ञा से। यदि सीता जी की स्वयं कि यह प्रतिज्ञा होती कि- मैं उसी को अपना पति वरण करूँगी जो इस धनुष को तोड़ देगा, तभी स्वयंवर शब्द की सार्थकता प्रतीत होती।

इसी प्रकार इस स्वयंवर में भी माता-पिता की ही प्रतिज्ञा होने की सम्भावना से यह स्वयंवर भी माता-पिता की इच्छा के अनुरूप होने वाले आजकल के विवाहों के समान ही हो सकता है, न कि स्वयंवर।

इसका समाधान करने की कृपा करें।

- शिवप्रसाद आर्य, मु. बिजली खेरा, सी.एम.ओ. बँगला के सामने बाँदा, उत्तर प्रदेश

समाधान - स्वयंवर विवाह में वर को चुनने की मुख्यता कन्या को ही होती है। स्वयंवर शब्द से भी यही ज्ञात हो रहा है। पहले प्रायः स्वयंवर विवाह ही होते थे, आज भी हो रहे हैं। पहले वीरता, विद्या को प्रमुखता देकर स्वयंवर होते थे, ऐसा इतिहास से ज्ञात होता है, आज धन, पद, भूमि, डिग्री (उपाधि) को प्रमुख रखकर स्वयंवर होते हैं। कन्या इच्छा प्रकट करती है कि वह एम.ए. पढ़े हुए से, डॉक्टर से, इन्जिनीयर से, सेना के अधिकारी से, सरकारी नौकरी वाले आदि से विवाह करना चाहती है। उसकी इस इच्छा को माता-पिता घोषित करते हैं, उस इच्छा के अनुसार ऐसी योग्यता वाले युवक से विवाह कर देते हैं, तो वह स्वयंवर विवाह ही है। अथवा माता-पिता की इच्छा है कि अमुक विशेष योग्यता वाले लड़के से अपनी कन्या का विवाह हो और कन्या, माता-पिता की इस इच्छा को स्वीकार करती है तो भी स्वयंवर ही कहावेगा। सीता जी के स्वयंवर विषय

में भी ऐसा ही रहा होगा। वह तो वैदिक युग था, उसमें जनक जैसे पिता पुत्री की इच्छा के प्रतिकूल तो नहीं करेंगे और सीता जैसी पुत्री–जिसकी इच्छा ही पिता की इच्छानुसार वर ग्रहण करना थी, तो निश्चित ही यह स्वयंवर विवाह था, जहाँ पिता की इच्छा को पुत्री ने स्वीकार किया और विवाह सम्पन्न हुआ।

आपने जिज्ञासा में जिस स्वयंवर (परोपकारी जून प्रथम, २०१२ विज्ञापन वाला) के सन्दर्भ में जानना चाहा, उनसे सम्पर्क करने पर ज्ञात हुआ कि यहाँ भी उसी प्रकार कन्या व वर ने परस्पर प्रश्नोत्तर पूर्वक, प्रसन्नता से पहले एक दूसरे का वरण किया, पुनः विवाह सम्पन्न कराया गया, अतः यह भी स्वयंवर विवाह ही था। अधिक जानकारी के लिए आप स्वयं उक्त पते पर सम्पर्क कर सकते हैं।

जिज्ञासा ३ – रामायण काल में कहते हैं कि जो वानर जाति बताई है, यह आजकल के अंग्रेज हैं जो भारत को इण्डिया कहते हैं।

– हनुमान आर्य, मु.पो. सिवानी मण्डी, जि. भिवानी, हरि.

समाधान – रामायण काल की 'वानर' जाति के वानर पशु नहीं थे, अपितु 'वानर' उपनाम वाले मनुष्य ही थे। वे आर्यावर्त्तवासी थे, कोई अंग्रेज नहीं थे। रामायण काल के 'वानर' विषय में अधिक जानने के लिए मथुरा से प्रकाशित 'शुद्ध हनुमान् चरित' का अध्ययन करें।

पाखण्ड

जिज्ञासा १- वर्तमान में पौराणिक पद्धति के अनुसार माता पार्वती के ९ रूपों की पूजा हेतु वर्ष में दो नवरात्रि पर्व मनाये जाते हैं, उन्हें क्या वैदिक पद्धति से जोड़ना उचित है? वैदिक-युग में इनका क्या महत्त्व था और उस समय इस पर्व को कैसे मनाया जाता था और अब कैसे मनाया जाय?

- डॉ. एल.पी. शास्त्री, ई-१५, एम.आई.जी. फ्लैट, प्रसाद नगर-।।, नई दिल्ली-५

समाधान - नवरात्र का कोई वैदिक आधार दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। यह प्रथा पुराणों के आधार पर चली आ रही है। पौराणिक पार्वती के ९ रूप मानते हैं, उसके आधार पर ९ दिन उपवास करते हैं। कुछ वैदिक विद्वान् भी अपनी कल्पना के आधार पर देवी के ९ रूपों की अलग-अलग व्याख्या करते हैं, लेकिन इस व्याख्या का उनके पास कोई वैदिक आधार नहीं होता। उनके ऐसा करने से पौराणिक मान्यताएँ ही पुष्ट होती हैं, जो कि ठीक नहीं है, इसलिए इसको वैदिक पद्धति से जोड़ना उचित नहीं है।

वैदिक उपदेशकों द्वारा आजकल कुछ पौराणिक मान्यताओं को अपने ढंग से व्याख्या करने का फैशन-सा आ गया है। ऐसा करते हुए वे भूल जाते हैं कि हम वैदिक मान्यता को छोड़ पौराणिक मान्यता को पुष्ट कर रहे हैं।

एक उपदेशक आर्यसमाज के मंच से गणेश को राजा का रूप देकर व्याख्या कर रहा था। उस व्याख्या में उसकी प्रायः सभी बातें तर्कहीन थीं। उसके व्याख्यान के बाद मेरा क्रम था, मैंने बोलने से पहले कहा कि ये क्या कर दिया, आपकी बातें तर्कहीन हैं। जब इस रूप वाला कोई गणेश ही नहीं हुआ, हो ही नहीं सकता तो उसकी व्याख्या कैसी? मेरे द्वारा समझाने पर उस उपदेशक ने कहा- गुरु जी, गलती हो गई, मेरे विषय में मंच से

कुछ मत कहना। ऐसे लोग विचार संकरता को फैलाने वाले होते हैं।

रही पूर्वकाल में इसको मानने वाली बात, तो यह काल-ऋतु संधिकाल होता है। ऋतु संधिकाल में प्राय: रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों से बचने के लिए हो सकता कि लोग कुछ दिनों का उपवास करते रहें हों। उस उपवास काल में ईश्वर भक्ति विशेष करते हों। इस रूप में ये संधिकाल मनाये जाते रहे होंगे, किन्तु आज उनका विकृत रूप हमारे सामने है।

जिज्ञासा २ - क. पंचक- किस प्रकार से अनेक अवसरों के लिये पंचक बाधक माने जाते हैं? क्या इनका कोई प्रभाव होता है?

ख. मंगल राशि- अनेक युवकों एवं युवतियों की कुण्डली में मंगल राशि के कारण वे मंगली माने जाते हैं। उनकी शादियों में अनेक समस्यायें आती हैं और अनेक बार कुछ युवक व युवतियाँ शादी बिना रह जाते हैं। कुछ सनातनी पण्डित कहते हैं कि २७ वर्ष के बाद मंगली राशि का प्रभाव नहीं रहता है। कृपया, इस पर विस्तृत रूप से विचार दें।

ग. गुण मिलान- विवाह पूर्व लड़के व लड़की के गुण मिलाये जाते हैं। कहा जाता है कि ३६-३६ गुण माने गये हैं। यदि इन में से २० गुण दोनों के मिल जाते हैं तो ठीक रहता है। इस पर भी अपने विचार देने की कृपा करें।

- डॉ. लक्ष्मणसिंह टाँक, ५१, देवपुरम्, मुजफ्फरनगर-२५१००१ (उ.प्र.)

समाधान - क. पंचक किसी प्रकार से किसी अवसर पर कोई बाधक नहीं है। शुभ कार्यों के लिए कोई पंचक बाधक नहीं है, न ही इनका किसी कार्य पर कोई प्रभाव पड़ता है। पौराणिक लोग दक्षिणायन में पाँच महीनों को अशुभ मानते हैं। उनमें भी कुछ राशि विशेषों में वे शुभ कार्य नहीं करते हैं, जो कि एक अन्धविश्वास का द्योतक है। परमेश्वर के बनाये प्रत्येक दिन शुभ ही है। उनमें हम कभी भी अपनी अनुकूलता के अनुसार

कार्य कर सकते हैं। शुभ कार्य करने के लिए हमारे ऋषियों ने मुख्य रूप से परिवार व सम्बन्धीजनों की प्रसन्नता को रखा है। जब सभी प्रसन्न हों व सबको अनुकूलता हो तो शुभ कार्य किया जा सकता है। उसमें पंचक कोई बाधक नहीं बनता, न ही उसका कोई उस कार्य पर प्रभाव पड़ता है।

हाँ, पौराणिक पण्डित पर अवश्य प्रभाव पड़ता है कि वह अपनी ठग लीला कर धन हरण नहीं कर पायेगा। ये पंचक आदि पौराणिकों ने अपने द्रव्य हरण करने के लिए बना रखे हैं। सत्य शास्त्रों में इनका कहीं वर्णन नहीं है। परमेश्वर के किन्हीं दिन विशेषों को अशुभ कहना परमेश्वर का अपमान करना है, इसलिए इन पंचक आदि के भ्रमजाल में न पड़कर यथावसर अपने कार्य करते चले जायें, जीवन में उन्नति होती रहेगी।

ख. यह मंगल राशि की कथा भी पोप जी ने गढ़ रखी है। इसका भी किसी आर्ष ग्रन्थ में वर्णन नहीं है। इन राशियों का जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मंगल का अर्थ ही शुभ, कल्याण, सौभाग्य और अभीष्ट है। अब कोई मंगली है तो उसका अर्थ क्या हुआ? इन पोपों के अनुसार तो अशुभ हुआ, किन्तु यथार्थ में मंगली का अर्थ बना शुभ से युक्त, कल्याण से युक्त, सौभाग्य से युक्त, अभीष्ट से युक्त। यदि शुभ, कल्याण से युक्त कोई अशुभ है तो वह पोप जी की दृष्टि में हो सकता है, किसी विद्वान् की दृष्टि में नहीं।

कोई युवक-युवती मंगल राशि में पैदा होने से उनके विवाह में अड़चन पैदा होती है, वह अड़चन मंगल राशि के कारण नहीं होती, अपितु वह अड़चन द्रव्य हरण करने वाले पोप जी के कारण होती है। ऐसे ही जिन युवक-युवतियों का विवाह ही नहीं होता, वह भी मंगल राशि के कारण नहीं, अपितु इसी अविद्या की मूर्ति पोप के कारण नहीं होता।

जब किसी भी राशि का प्रभाव हमारे जीवन के प्रारम्भ से ही नहीं हो तो २७ वर्ष की बात ही क्या है? कोई मंगली मंगल राशि से हलका हो या

न हो, किन्तु ये तथाकथित पण्डित लोग २७ वर्ष तक उसको धन से अवश्य हलका कर देंगे।

ग. विवाह करने से पहले लड़के व लड़की के गुण, कर्म, स्वभाव अवश्य मिलाने चाहिए, अन्यथा दोनों को जीवन भर दुःख भोगना पड़ता है। महर्षि दयानन्द ने तो यहाँ तक भी लिखा है कि–

काममामरणात्तिष्ठेत् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्।।

– मनु. ९.८९

चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमार रहें, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए। ऋषि देख रहें हैं कि यदि विरुद्ध गुण, कर्म, स्वभाव वालों का विवाह हुआ तो गृहस्थ में आनन्द के स्थान पर कलह ही अधिक होगा। ऐसी स्थिति में सन्तान भी उत्तम न होगी। उत्तम सन्तान न होने से परिवार, समाज, राष्ट्र पर भी प्रभाव पड़ता है, इसलिए अनुकूल गुण, कर्म, स्वभाव वालों का ही विवाह होना चाहिए।

यह ३६, २० गुणों वाली कल्पना भी पोप जी की ही है। इस प्रकार के गुणों का देखना व **मिलाना कुण्डली के आधार पर पोप जी करते हैं, जो कि सर्वथा अवैदिक है।** इन गुणों का व्यक्ति के जीवन से कोई लेना-देना नहीं होता। जो पोप जी कुण्डली वाले गुणों के आधार पर विवाह कराते हैं, उनमें से कितने ही विवाह ठीक नहीं होते, अर्थात् विवाहित पति-पत्नी के गुण, कर्म, स्वभाव नहीं मिल रहे होते। वैसे पोप जी ने कुण्डली वाले गुणों का तो मिलान किया ही था, फिर भी अनेक वैवाहिक जीवन में सुख नहीं होता। इसमें कारण यही है कि दोनों के जन्म से लेकर विवाह अवस्था तक जो उनमें गुण विशेष हैं, उनका मिलान नहीं हुआ। यदि कुण्डली वाले ३६.२० गुणों के गणित को छोड़कर, दोनों

लड़के-लड़की की विवाह अवस्था तक के गुण, कर्म, स्वभाव को मिलाकर विवाह किया जाये तो जीवन भर आनन्द रहेगा, अन्यथा तो पोप जी ही उनके धन व आनन्द का हरण करते रहेंगे।

विवाह करने से पूर्व केवल लड़के-लड़की के गुण, कर्म, स्वभाव नहीं देखने होते, अपितु दोनों के परिवार के भी देखने होते हैं, देखने चाहिए।

महर्षि लिखते हैं-

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्री सम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्।।

– मनु. ३.६

चाहे कितने ही धन-धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों तो भी विवाह सम्बन्ध में दस कुल छोड़ देने चाहिए।

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च।।

– मनु. ३.७

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े-बड़े लोम अथवा बवासीर, क्षयी=दमा, खाँसी, आमाशय (पेट का रोग), मिरगी, श्वेत कुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त हों, उन कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह करना न चाहिए, क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिए उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिए।

आपने बड़ी अच्छी बात गुणों वाली कही है। ऐसा ही समाज में होना चाहिए, जिससे समाज उत्कृष्ट बने।

हाँ, गुण युवक-युवती व उनके परिवार दोनों के देख कर ही विवाह करना उत्तम है।

जिज्ञासा ३ – मैं परोपकारी का लगभग ३० वर्षों से नियमित पाठक

हूँ। आपसे मैं आशा करता हूँ कि तथाकथित असामाजिक तत्त्वों व संगठनों द्वारा आर्यसमाज व महर्षि दयानन्द की विचारधारा पर किए जा रहे हमलों व षड्यन्त्रों का आप जवाब दें। उन्हें शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देने में भी आप सक्षम हैं, ऐसी मेरी मान्यता है। ऐसे ही एक पत्र मेरे (आर्यसमाज सोजत) पते पर दुबारा डाक से प्राप्त हुआ है। इस पत्र की फोटो प्रति मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह पत्र ब्रह्माकुमारी संस्था से जुड़े किसी व्यक्ति का है। मैंने उससे फोन पर बात भी की है तथा उसे कठोर शब्दों में आमने-सामने बैठकर चर्चा के लिए चुनौती दी है, परन्तु फोन पर उसने कोई जवाब नहीं दिया।

ब्रह्माकुमारी वाले का यह पत्र लिखने वाले ने नीचे अपना नाम के साथ चलभाष संख्या भी लिखी है, जो आपकी सेवा में प्रस्तुत है -

'धर्माचार्य जानते हैं कि वे भगवान् से कभी नहीं मिले, वे यह भी जानते हैं कि वेदों शास्त्रों द्वारा भगवान् को नहीं जाना जा सकता, फिर यह किस आधार से भगवान् को सर्वव्यापी कहते हैं? कुत्ते-बिल्ली में भी भगवान् हैं, ऐसा कहकर भगवान् की ग्लानि क्यों करते हैं? यदि इन्हें कोई कुत्ता कहे तो कैसा लगेगा? धर्माचार्य यह भी कहते हैं कि सब ईश्वर की इच्छा से होता है। जरा सोचें कि क्या छः माह की बच्ची से बलात्कार ईश्वर इच्छा से होता है? क्या यही है ईश्वर इच्छा? अरे मूर्खो, निर्लज्जो, राम का काम, रामलीला करना है या रावण लीला? राम की आड़ में रावण लीला करने वाले राक्षसो, सम्भल जाओ, क्योंकि राक्षसों से धरती को मुक्त कराने राम आए हैं।'

- अर्जुन, दिल्ली, मो.-०९२१३३२४१३४)

- हीरालाल आर्य, मन्त्री आर्यसमाज सोजत नगर, जि. पाली, राज.-३०६१०४

समाधान- वर्तमान में भारत देश के अन्दर हजारों गुरुओं ने मत-

सम्प्रदाय चला रखे हैं, जो कि प्राय: वेद विरुद्ध हैं। ईसाई, मुस्लिम, जैन, बौद्ध, नारायण सम्प्रदाय, रामस्नेही सम्प्रदाय, राधास्वामी, निरंकारी, धन-धन सतगुरु (सच्चा सौदा), हंसा मत, जय गुरुदेव, सत्य साईं बाबा, आनन्द मार्ग, ब्रह्माकुमारी आदि मत- ये सब वेद विरोधी हैं। सबके अपने-अपने गुरु हैं, ये सम्प्रदायवादी ईश्वर से अधिक महत्त्व अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तक को देते हैं, ये लोग अपने सम्प्रदाय की पुस्तक को ही महत्त्व देते हैं।

आपने ब्रह्माकुमारी के विषय में जानना चाहा है। ब्रह्माकुमारी मत वाले हमारे प्राचीन इतिहास व शास्त्र के घोर शत्रु हैं। इस मत के मानने वाले १ अरब ९६ करोड़ ८ लाख, ५३ हजार ११५ वर्ष (२०१४ के अनुसार) से चली आ रही सृष्टि को मात्र ५ हजार वर्ष में समेट देते हैं। ये लाखों वर्ष पूर्व हुए राम आदि के इतिहास को नहीं मानते हैं। वेद आदि किसी शास्त्र को नहीं मानते, इसके प्रमाण की तो बात ही दूर रह जाती है। वेद में प्रतिपादित सर्वव्यापक परमेश्वर को न मान एक स्थान विशेष पर ईश्वर को मानते हैं। अपने मत के प्रवर्तक दादा लेखराज को ही ब्रह्मा वा परमात्मा कहते हैं।

इनके विषय में स्वामी विद्यानन्द जी ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ भास्कर में विस्तार से लिखा है, उसको हम यहाँ दे रहे हैं।

"ब्रह्माकुमारी मत- दादा लेखराज के नाम से कुख्यात खूबचन्द कृपलानी नामक एक अवकाश प्राप्त व्यक्ति ने अपनी कामवासनाओं की तृप्ति के लिए सिन्ध में ओम् मण्डली नाम से एक संस्था की स्थापना की थी। सबसे पहले उसने कोलकाता से मायादेवी नामक एक विधवा का अपहरण किया। उसी के माध्यम से उसने अन्य अनेक लड़कियों को अपने जाल में फँसाया। इलाहाबाद के एक साप्ताहिक के द्वारा पोल खुलने पर सन् १९३७ में लाहौर में रफीखां पी.सी.एस. की अदालत में मुकदमा चला। मायादेवी ने अपने बयान में बताया कि "गुरु जी ने हमसे कहा कि तुम

जनता में जाकर कहो कि मैं गोपी हूँ और ये भगवान् कृष्ण हैं। मैं बड़ी पापिनी हूँ। मैंने कितनी कुंवारी लड़कियों को गुमराह किया है। कितनी ही बहनों को उनके पतियों से दूर किया है......'' (आर्य जगत् जालन्धर २३ जुलाई १९६१)। कलियुगी कृष्ण ने अदालत में क्षमा माँगी और भाग निकला। १३ अगस्त, १९४० में उसने बिहार में डेरा डाल दिया। चेले-चेलियाँ आने लगे। एक दिन एक बूढ़े हरिजन की युवा पत्नी धनिया को लेकर भाग खड़े हुए। फिर मुकदमा चला। धनिया ने अपने बयान में कहा- ''इस गुरु महाराज ने हमें कहा था कि मैं आपका पति हूँ। ब्रह्माजी ने मुझे आपके लिए भेजा है।'' इसी प्रकार नाना प्रकार के अनैतिक कर्म करते हुए दादा लेखराज हैदराबाद (सिन्ध) में जम गये और देवियों को गोपियाँ बनाकर रासलीलाएँ रचाने लगे। रासलीला की ओर से होने वाले व्यभिचार का पता जब प्रसिद्ध विद्वान्, ओजस्वी वक्ता और समाजसेवी साधु टी.एल. वास्वानी को चला तो वे उसके विरुद्ध मैदान में कूद पड़े। इससे सामान्यतः देशभर में और विशेषतः सिन्ध में तहलका मच गया। ओम् मण्डली के काले कारनामे खुलकर सामने आने लगे। यहाँ पर भी मुकदमा चला। पटना के 'योगी' पत्र से 'सरस्वती' (भाग ३९, संख्या खण्ड ६१, मई १९३८) का यह विवरण द्रष्टव्य है- ''ओम् मण्डली पर पिकेटिंग शुरू हो गई है। सी.पी.सी. की धारा १०७ के अनुसार सिटी मजिस्ट्रेट की अदालत में पिकेटिंग करवाने वालों के साथ ओम् मण्डली के संस्थापक और चार अन्य सदस्यों पर मुकदमा चल रहा है।'' दादा लेखराज को कारावास का दण्ड मिला।

भारत विभाजन के बाद से ब्रह्माकुमारी मत का मुख्यालय आबू पर्वत पर है। जनवरी १९६९ में दादा लेखराज की मृत्यु के बाद से दादी के नाम से चर्चित प्रकाशमणि इस सम्प्रदाय की प्रमुख रही हैं। वर्तमान में इस संस्था या सम्प्रदाय की लगभग दो हजार से अधिक शाखाएँ संसार के

अनेक देशों में स्थापित हैं। मैट्रिक तक पढ़ी प्रकाशमणि आबू से विश्वभर में फैले अपने धर्म साम्राज्य का संचालन करती रही। समस्त साधक या साधिकाएँ, प्रचारक या प्रचारिकाएँ ब्रह्माकुमार और ब्रह्माकुमारी कहलाते हैं। प्रचारिकाएँ प्राय: कुमारी होती हैं। विवाहित स्त्रियाँ अपने पतियों को छोड़कर या छोड़ी जाकर इस सम्प्रदाय में साधिकाएँ बन सकती हैं। ये भी ब्रह्माकुमारी ही कहलाती हैं। पुरुष, चाहे विवाहित हो अथवा अविवाहित, ब्रह्माकुमार ही कहलाते हैं। ब्रह्माकुमारियों के वस्त्र श्वेत रेशम के होते हैं। .....प्रचारिकाएँ विशेष प्रकार का सुर्मा लगाती हैं, जो इनकी सम्मोहन शक्ति को बढ़ाने में सहायक होता है। सात दिन की साधना में ही वे साधकों को ब्रह्म का साक्षात्कार कराने का दावा करती हैं।

अनुभवी लोगों के अनुसार –

'तप्तांगारसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान्'

अर्थात् स्त्री जलते हुए अंगारे के समान और पुरुष घी के घड़े के समान है। दोनों को पास–पास रखना खतरे से खाली नहीं है। गीता में लिखा है–

यततो ह्यपि कौन्तये पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।

अर्थात् यत्न करते हुए विद्वान् पुरुष के मन को भी इन्द्रियाँ बलपूर्वक मनमानी की ओर खींच ले जाती हैं। भर्तृहरि ने कहा है–

विश्वामित्र पराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपिस्त्रीमुखपङ्कजे सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगता।
अन्नं घृतदधिपयोयुतं भुञ्जति ये मानवाः,
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम्।।

अर्थात्– विश्वामित्र, पाराशर आदि महर्षि जो पत्तों, वायु और जल का ही सेवन करते थे, वे भी स्त्री के सुन्दर मुखकमल को देखते ही मुग्ध हो गये थे। फिर घी, दुग्ध, दही आदि से युक्त अन्न खाने वाले मनुष्य यदि

इन्द्रियों को वश में कर लें तो विन्ध्यपर्वत समुद्र में तैरने लगे।

इसलिए भगवान् मनु ने एकान्त कमरे में भाई-बहन के भी सोने का निषेध किया है।

वस्तुतः ब्रह्माकुमारों और कुमारियों का समागम मध्यकालीन वाममार्गियों के भैरवी चक्र जैसा ही प्रतीत होता है। दादा लेखराज तो ब्रह्माकुमारियों के साथ आलिंगन करते, मुख चूमते तथा.....। भक्तों का कहना है कि ब्रह्माकुमारियाँ तो उनकी पुत्रियों के समान हैं और दादा उनके पिता के समान। जैसे बच्चे उचक कर पिता की गोद में जा बैठते हैं, वैसे ही ब्रह्माकुमारियाँ दादा लेखराज की गोद में जा बैठती थीं और वे उन्हें पिता के समान प्यार करते थे।

बिठाकर गोद में हमको बनाकर वत्स सेते हैं,
बनाने को हमें सच्चा समर्पण माँग लेते हैं।
लोकलाज कुल मर्यादा का, डुबा चलें हम कूल किनारा।
हमको क्या फिर और चाहिए, अगर पा सकें प्यार तुम्हारा।।

– भगवान् आया है, पृ. ५०, ५१, ६९

इनके धर्मग्रन्थ 'सच्ची गीता' पृष्ठ ९६ पर लिखा है–

"बड़ों में भी सबसे बड़ा कौन है, जो सर्वोत्तम ज्ञान का सागर और त्रिकालदर्शी कहा जाता है। मेरे गुण सर्वोत्तम माने जाते हैं, इसलिए मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।"

पुरुषोत्तम शब्द की दो निरुक्तियाँ होती हैं– एक है–

'पुरुषेषु उत्तमः इति पुरुषोत्तमः।'

जो व्यक्ति परस्त्रियों के साथ रमण करता है, उन्हें अपनी गोद में बैठाता है और उनके..... उसे इन अर्थों में तो पुरुषोत्तम नहीं कहा जा सकता।

दूसरी निरुक्ति–

'पुरुषेषु ऊतस्तेषु उत्तम इति पुरुषोत्तमः'

के अनुसार दादा लेखराज को पुरुषोत्तम मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आश्चर्य की बात है कि अपनी सभाओं और सम्मेलनों में देश-परदेश के राजनेताओं, शासकों, न्यायाधीशों, पत्रकारों, शिक्षा शास्त्रियों तक को आमन्त्रित करने वाली ब्रह्माकुमारी संस्था मूल सिद्धान्तों, दार्शनिक मान्यताओं तथा कार्यकलापों को ये अभ्यागत लोग नहीं जानते। हो सकता है, वे ब्रह्माकुमारियों के..... खिंचे चले आते हों। आज तक निश्चित रूप से यह पता नहीं चल सका कि इस संस्था के करोड़ों रुपये के बजट को पूरा करने के लिए यह अपार राशि कहाँ से आती है? कहा जाता है कि ब्रह्माकुमारियाँ ही अपने घरों को लूट कर लाती हैं, पर उतने से काम बनता समझ में नहीं आता। कुछ स्वकल्पित चित्रों और चार्टों तथा रटी-रटाई शब्दावली में अपने मन्तव्यों का परिचय देने वाली ब्रह्माकुमारियाँ और ब्रह्माकुमार राजयोग, शिव, ब्रह्मा, कृष्ण, गीता आदि की बातें तो करते हैं, परन्तु सुपठित व्यक्ति जल्दी ही भाँप जाता है कि महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित राजयोग तथा व्यासरचित गीता का तो ये क, ख, ग भी नहीं जानते। ये विश्वशान्ति और चरित्र निर्माण के लिए आडम्बरपूर्ण आयोजन करते हैं, शिविर लगाते हैं, कार्यशालाएँ संचालित करते हैं, किन्तु उनमें से किसी का भी कोई प्रतिफल दिखाई नहीं देता।''

पाठक, ब्रह्माकुमारी के मूल संस्थापक के चरित्र को इस स्पष्टीकरण से जान गये होंगे, आज के रामपाल और उस समय के लेखराज में क्या अन्तर है? आर्यसमाज सदा से ही गलत का विरोधी रहा है, आज भी है। ब्रह्माकुमारी वाले अपने मूल सिद्धान्तों के लिए आर्यसमाज से चर्चा वा शास्त्रार्थ करना चाहें, तो आर्यसमाज सदा इसके लिए तैयार है।

आपने जो इनका पत्र संकलित कर भेजा है, उसी से ज्ञात हो रहा है कि ये वेद-शास्त्र के निन्दक व वेदानुकूल ईश्वर को न मानने वाले हैं।

जिज्ञासा ४ – मैं आपसे अपनी ही नहीं, अपितु आम व्यक्तियों की जिज्ञासा हेतु कुछ जानना चाहता हूँ। कृपया, समाधान कर कृतार्थ करें-

(क) तमाम कथावाचक, उपदेशक, साधु व सन्त नरक, स्वर्ग व मोक्ष की बातें करते हैं। आप इनको विस्तृत रूप से समझायें और अपने विचार दें।

(ख) धार्मिक पुस्तकों में लिखा मिलता है कि अमुक ऋषि ने सैंकड़ों नहीं, हजारों वर्ष तक तप किया। इसमें सत्य क्या है? सामान्यतः हर जीव-जन्तु की एक निश्चित/अधिकतम आयु होती है। इसका भी समाधान करें।

– डॉ. लक्ष्मणसिंह टाँक, पूर्व प्राचार्य, ५१, देवपुरम्, मुजफ्फरनगर, उ.प्र.

समाधन-(क) वेद विरुद्ध मत-सम्प्रदायों ने अनेक मिथ्या कल्पना कर, उन कल्पनाओं को जन सामान्य में फैलाकर पूरे समाज को अविद्या अन्धकार में फँसा रखा है, जिससे जगत् में दुःख की ही वृद्धि हो रही है। ये मत-सम्प्रदाय ऊपर से अध्यात्म का आवरण अपने ऊपर डाले हुए मिलते हैं। यथार्थ में देखा जाये तो जो वेद के प्रतिकूल होगा, वह अध्यात्म हो ही नहीं सकता, कोई कहने को भले ही कहता रहे। महर्षि दयानन्द के काल में व उनसे पूर्व और आज वर्तमान में इन मत-सम्प्रदायों की संख्या देखी जाये तो हजारों से कम न होगी। उन हजारों में शैव, शाक्त, वैष्णव, वाममार्ग, बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम आदि प्रमुख हैं। महर्षि दयानन्द के समय से कुछ पूर्व स्वामी नारायण सम्प्रदाय, रामस्नेही सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, गुसाईं मत आदि थे और महर्षि के बाद राधास्वामी मत, ब्रह्माकुमारी मत, हंसा मत, सत्य साँई बाबा पंथ (दक्षिण वाले), आनन्द मार्ग, महेश योगी, माता अमृतानन्दमयी, डेरा सच्चा सौदा, आर्ट ऑफ लिविंग, निरंकारी, विहंगम योग, शिव बाबा आदि कई नए मत-पंथ पैदा हो गए हैं, कितनों के नाम लिखें? ये सब अवैदिक मान्यता वाले हैं। इन्होंने अपने-अपने मत

की पुस्तकें भी बना रखी हैं। इन पुस्तकों में इन मत वालों ने अपनी मनगढ़न्त कल्पनाओं के आधार पर ही अधिक लिख रखा है। स्वर्ग, नरक, मोक्ष, आकाश में देवताओं का निवास स्थान, यमराज, यमदूत आदि की व्याख्याएँ अविद्यापरक ही हैं।

आपने स्वर्ग, नरक, मोक्ष के विषय में जो आज के तथाकथित उपदेशक, कथावाचक, साधु-सन्त कहते-बतलाते हैं, उसके सम्बन्ध में जानना चाहा है। यहाँ हम महर्षि की मान्यता को लिखते हैं व इन तथाकथित कथावाचकों की इन विषयों में क्या दृष्टि है, उसको भी लिखते हैं "**स्वर्ग**- जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, वह स्वर्ग कहाता है। **नरक**- जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, उसको नरक कहते हैं।" आर्योद्दे. १४-१५ स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में महर्षि इनके विषय में लिखते हैं- "स्वर्ग- नाम सुख विशेष भोग और उनकी सामग्री प्राप्ति का है। नरक- जो दुःख विशेष भोग और उनकी सामग्री प्राप्ति को प्राप्त होना है।" सत्यार्थप्रकाश ९वें सम्मुल्लास में महर्षि लिखते हैं- ".......सुख विशेष स्वर्ग और विषय तृष्णा में फँसकर दुःख विशेष भोग करना नरक कहाता है। 'स्वः' सुख का नाम है, स्व सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः, अतो विपरीतो दुःखभोगो यस्मिन् स नरक इति। जो सांसारिक सुख है, वह सामान्य स्वर्ग और जो परमेश्वर की प्राप्ति में आनन्द है, वही विशेष स्वर्ग कहाता है।"

महर्षि की इन परिभाषाओं के आधार पर (परमेश्वर की प्राप्ति रूप विशेष स्वर्ग को छोड़) स्वर्ग-नरक किसी लोक विशेष या स्थान विशेष पर न होकर, जहाँ भी मनुष्य आदि प्राणी हैं, वहाँ हो सकते हैं। जो इस संसार में सब प्रकार से सम्पन्न है, अर्थात् शारीरिक स्वस्थता, मन की प्रसन्नता, बन्धु जन आदि का अनुकूल मिलना, अनुकूल साधनों का मिलना, धन सम्पत्ति पर्याप्त मिलना आदि है। जिसके पास ये सब हैं, वह स्वर्ग में

ही है। इसके विपरीत होना नरक है, नरक में रहना है। वह नरक भी इसी संसार में देखने को मिलता है।

नरक के विषय में किसी नीतिकार ने लिखा है-

अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी, दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसङ्गः कुलहीनसेवा चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्।।

अत्यन्त क्रोध, कटुवचन, दारिद्र्य, स्वजनों से वैर-भाव, नीच-दुर्जनों का संग और कुलहीन की सेवा- ये चिह्न नरकवासियों की देह में होते हैं। ये सब चिह्न इसी संसार में देखने को मिलते हैं। इस आधार पर स्वर्ग अथवा नरक के लिए कोई लोक पृथक् से हो- ऐसा प्रतीत नहीं हो रहा। यह काल्पनिक ही सिद्ध हो रहा है।

जिस स्वर्ग लोक की कल्पना इन लोगों ने कर रखी है, वह तो इस पृथिवी पर रहने वाले एक साधन सम्पन्न व्यक्ति से अधिक कुछ नहीं है।

मोक्ष निराकार परमेश्वर को प्राप्त कर, उसके आनन्द में रहने का नाम है, अर्थात् जब जीव अपने अविद्यादि दोषों को सर्वथा नष्ट कर, शुद्ध ज्ञानी हो जाता है, तब वह सब दुःखों से छूट कर परमेश्वर के आनन्द में मग्न रहता है, इसी को मोक्ष कहते हैं। वहाँ आत्मा अपने शरीर रहित अपने शुद्ध स्वरूप में रहता है। कथावाचकों के मोक्ष की कल्पना और उसके साधनों की कल्पना सब मिथ्या है। किन्हीं का मोक्ष गोकुल में, किसी का विष्णु लोक क्षीरसागर में, किसी का श्रीपुर में, किसी का कैलाश पर्वत में, किसी का मोक्षशिला शिवपुर में, तो किसी का चौथे अथवा सातवें आसमान आदि पर। इस प्रकार के मोक्ष के उपाय भी मिथ्या एवं काल्पनिक हैं। जैसे-

गङ्गागङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति।।

- ब्रह्मपुराण. १७५.९२/पप.पु.उ. २३.२

अर्थात् जो सैंकड़ों सहस्रों कोश दूर से भी गंगा-गंगा कहे, तो उसके

पाप नष्ट हो जाते हैं और वह विष्णु-लोक अर्थात् वैकण्ठ को जाता है।

हरिर्हरति पापानि हरिरित्यक्षरद्वयम्।।

अर्थात् हरि इन दो अक्षरों का नामोच्चारण सब पापों को हर लेता है, वैसे ही राम, कृष्ण, शिव, भगवती आदि नामों का महात्म्य है।

इसी तरह-

प्रातः काले शिवं दृष्ट्वा निशिपापं विनश्यति।
आजन्म कृतं मध्याह्ने सायाह्ने सप्तजन्मनाम्।।

अर्थात् जो मनुष्य प्रातः काल में शिव अर्थात् लिंग वा उसकी मूर्ति का दर्शन करे तो रात्रि में किया हुआ, मध्याह्न में दर्शन से जन्मभर का, सायङ्काल में दर्शन करने से सात जन्मों का पाप छूट जाता है।

इस प्रकार के उपाय पाप छुटाने मोक्ष दिलाने के मिथ्या ग्रन्थों में लिखे हैं और इन्हीं प्रकार के उपाय आज का तथाकथित कथावाचक बता रहा है। पाठक स्वयं देखें, समझें कि ये उपाय पाप छुड़ाने वाले हैं या अधिक-अधिक पाप कराने वाले। भोली जनता इन साधनों से ही अपना कल्याण समझती है, जिससे लोक में अविद्या अन्धकार, अन्धविश्वास, पाखण्ड और अधिक फैल रहा है।

वेद व ऋषियों द्वारा मुक्ति व उसके उपाय ऐसे नहीं हैं। वहाँ तो सब बुरे कामों और जन्म-मरण आदि दुःख सागर से छूटकर सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होकर सुख ही में रहना मुक्ति कहलाती है और ऐसी मुक्ति के उपाय महर्षि दयानन्द लिखते हैं- "....ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का करना, धर्म का आचरण और पुण्य का करना, सत्संग, विश्वास, तीर्थ सेवन, विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का संग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्मों का सेवन, सत्पुरुषों का संग और परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना तथा सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना- ये सब मुक्ति के साधन कहाते हैं।" इन मुक्ति के साधनों को देख

पाठक स्वयं विचार करें कि यथार्थ में मुक्ति के साधन, उपाय जो महर्षि द्वारा कहे गये हैं, वे हैं या उपरोक्त मिथ्या ग्रन्थों व तथाकथित कथावाचकों द्वारा कहे गये हैं, वे हैं ? निश्चित रूप से ऋषि प्रतिपादित ही मुक्ति के उपाय हो सकते हैं, दूसरे नहीं।

मिथ्या पुराणों जैसी ही मुक्ति ईसाइयों व मुसलमानों की भी है। ईसाइयों के यहाँ खुदा का बेटा जिसे चाहे बन्धन में डलवा दे। ईसाई जगत् में तो जीवितों को मुक्ति के पासपोर्ट मिल जाते हैं। समय से पूर्व अपना स्थान सुरक्षित कराया जाता है। जितना कुछ चाहिए उससे पूर्व उतना धन पोप को पूर्व में जमा करवाने का विधान रहा है।

मुसलमानों के यहाँ भी 'नजात' होती है और वहाँ पहुँच कर सब सांसारिक ऐश परस्ती के साधन विद्यमान हैं, मोहम्मद की सिफारिश के बिना, अर्थात् उन पर ईमान लाये बिना उसकी प्राप्ति नहीं है। कबाब, शराब, हूरें, गिलमा आदि सभी ऐय्याशी के साधन मिलते हैं। क्या यह भी कभी मुक्ति कहला सकती है ? इसी मुक्ति पर मुसलमानों का विश्वास है। वे कहते हैं-

अल्लाह के पल्ले में वहदत के सिवा क्या है।
लेना है सो ले लेंगे हम अपने मोहम्मद से।।

इतना सब लिखने का तात्पर्य यही है कि जो वेद व ऋषि प्रतिपादित नरक, स्वर्ग व मोक्ष की परिभाषाएँ हैं, वही मान्य हैं, इससे इतर नहीं। स्वर्ग व मोक्ष के उपाय भी वेद व ऋषियों द्वारा कहे गये ही उचित हैं, इन मिथ्या पुराणों व इनके कथावाचकों द्वारा कहे गये नहीं।

(ख) जिन पुस्तकों में गपोड़े लिखे हों वे धार्मिक पुस्तकें नहीं हो सकतीं, इसलिए जिन पुस्तकों में मनुष्य की आयु १०० वर्ष की वा अधिक से अधिक ३००-४०० वर्ष तक की हो सकने पर भी ये लिखा हो कि किसी ने हजारों वर्षों तप किया, वे पुस्तकें सत्य व धार्मिक कैसे हो सकती

हैं? हाँ, अर्थवाद की दृष्टि से किसी ने तप की स्तुति के लिए बढ़ा-चढ़ा कर कहा, लिखा हो- वह पृथक् बात है।

प्राय: पुराण आदि ग्रन्थों में इस प्रकार की बातें अधिक मिलती हैं। जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थों व बाइबिल, कुरान आदि में भी ऐसी मिथ्या बातों की भरमार है। जैसे शिव पुराण में ब्रह्मा व विष्णु का दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त चलते रहने का वर्णन, गरुड़ पुराण में पर्वत के समान यमगणों के शरीरों का वर्णन आदि ये सब मिथ्या ही हैं। इसी प्रकार जैन ग्रन्थों की पोप लीला देखिये- जैन ग्रन्थ में लिखा है- एक स्पर्श इन्द्रिय जीव का देहमान एक सहस्र योजन अर्थात् पौराणिकों का योजन ४ कोश का, परन्तु जैनियों का योजन १० हजार कोशों का होता है। ऐसे चार हजार कोश का शरीर होता है। और ऐसे जीव का आयुमान अधिक से अधिक दस हजार वर्ष का होता है और भी- अब दो इन्द्रिय वाले जीव अर्थात् एक उनका शरीर और एक मुख जो शंख, कौड़ी और जूँ आदि होते हैं। उनका देहमान अधिक से अधिक अड़तालीस कोश का स्थूल शरीर होता है और उनका आयुमान अधिक से अधिक बारह वर्ष का होता है। अब इन मिथ्या बातों पर कौन विश्वास करेगा कि एक जूँ जैसे प्राणी का शरीर इतना बड़ा कि उसमें कई नगर समा जावें। ये सब कपोल कल्पित गपोड़े ही हैं, इसलिए जहाँ पर ऐसी मिथ्या बातें हों, उन पुस्तकों को छोड़ देना ही अच्छा है और ऋषियों के ग्रन्थों को अपनाना कल्याण का काम है।

तर्क के विना कोई भी विद्या किसी मनुष्य को नहीं होती और विद्या के विना पदार्थों से उपयोग भी कोई नहीं ले सकता।

– महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ८.५६

विविध

जिज्ञासा १– कुछ लोग आर्यसमाज के विषय में भ्रान्तियाँ फैला रहे हैं। कृपया, उचित समाधान करें।

क. आर्यसमाज मूर्ति पूजा का खण्डन करता है, क्योंकि वह इस्लामिक धर्म से प्रभावित है। इस्लाम मूर्ति पूजा को नहीं मानता, इसलिए आर्य समाजी भी तीर्थों वा मन्दिरों की आलोचना करता है।

ख. स्वामी दयानन्द ने राम के वंशज नानकदेव की भी आलोचना की है।

ग. आर्य संस्कृति सतयुग से चली आ रही है, जबकि आर्य समाज का गठन कलयुग में स्वामी दयानन्द ने किया।

घ. आर्यसमाज अपने अनुयाइयों की श्रेष्ठता के अहंकार के कारण सिमटता जा रहा है।

ङ. कई लोग कहते हैं कि जब हम आर्य संस्कृति की बात करते हैं तो लोग उनको आर्यसमाजी समझते हैं जो कि उनको अच्छा नहीं लगता।

– जिज्ञासु श्रद्धाराम, लालगढ़

समाधान – क. इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर हम पहले भी दे चुके हैं, तथापि पुनः लिखते हैं। आर्यसमाज के विषय में अनेक लोगों को भ्रान्तियाँ बनी रही हैं। कुछ लोग कहते हैं, आर्यसमाज नास्तिकों का समूह है, कुछ कहते हैं कि आर्यसमाज वाले राम, कृष्ण, शिव आदि को नहीं मानते। यथार्थता से देखा जाये तो ज्ञात होगा कि ठीक-ठीक आस्तिक तो आर्यसमाज को मानने वाला ही है, क्योंकि नास्तिक उसको कहते हैं जो ईश्वर, वेद, धर्म, पुनर्जन्म आदि को नहीं मानता। इसके विपरीत आर्यसमाज तो ईश्वर के सच्चे स्वरूप निराकार, अजन्मा, न्यायकारी, सर्वव्यापक आदि को मानता है, वेद, धर्म, पुनर्जन्म सभी को मानता है। इन सब को मानने वाला नास्तिक कैसे? नास्तिक तो स्वयं वह है जो आर्यसमाज को नास्तिकों

का समूह कहता है।

रही बात राम, कृष्ण, शिवादि की तो इनको भी आर्यसमाज बड़े ही सम्मान के साथ महापुरुषों की दृष्टि से देखता है। हाँ, इनको परमात्मा के रूप में नहीं मानता, नहीं देखता।

अब आपके प्रश्नों पर आते हैं। आर्यसमाज मूर्ति पूजा का खण्डन, मन्दिर, तीर्थों की आलोचना इस्लाम से प्रभावित होकर करता है, यह कहना सर्वथा मिथ्या व अज्ञानता का द्योतक है। आर्यसमाज वेद व ऋषियों को आधार मानकर चलता है और वेद व ऋषियों ने कहीं भी मूर्ति पूजा का विधान नहीं किया है। तथाकथित तीर्थों का भी विधान नहीं है। इस आधार पर आर्यसमाज सत्य बात को रखता है जो कि तथाकथित धार्मिकों को खण्डन लगता है।

भ्रान्ति फैलाने वाले को ज्ञात होना चाहिए कि इस्लाम भी एक बहुत बड़ा मूर्ति पूजक (बुत परस्त) सम्प्रदाय है। मक्का में हज को जाने वाले मुस्लिम वहाँ पड़े काले पत्थर को चूमते हैं। क्या ये उनकी मूर्ति पूजा नहीं? कबरों, मजारों पर जाकर वहाँ धागा बाँधना, उनसे मनोकामना पूरी होने के लिए मन्नते माँगना, क्या ये मूर्ति पूजा नहीं? कबरों, मजारों पर चद्दरे चढ़ाना, क्या ये मूर्ति पूजा नहीं? भ्रम फैलाने वालों को इस्लाम की ये मूर्तिपूजा नहीं दिख रही, केवल उनको मुस्लिमों द्वारा हिन्दुओं की मूर्तियाँ तोड़ना दिख रहा है। भ्रम का निवारण कर सत्य को स्वीकार करें, जो कि आर्यसमाज के पास है।

सत्य तो यह है कि आर्यसमाज किसी इस्लाम से प्रभावित नहीं है। वह तो सत्य सनातन वैदिक परम्परा का पोषक रक्षक है, वेद और ऋषियों का अनुयायी है, इसलिए मूर्तिपूजा और मिथ्या तीर्थ मन्दिरों की आलोचना करता है, क्योंकि वेदादि सत्यशास्त्रों में मूर्ति को भगवान् मानकर पूजने का विधान कहीं नहीं है। माता, पिता, आचार्य, विद्वानों के सत्संग, ब्रह्मचर्य,

विद्याध्ययन आदि को तीर्थ मानता है, न कि मिथ्या तीर्थ गंगा स्नान आदि को।

ख. यह कहना कि महर्षि दयानन्द ने राम के वंशज नानकदेव जी की आलोचना की थी, अज्ञानता का द्योतक है। इस भ्रान्ति निवारण के लिए हम कहते हैं कि स्वामी दयानन्द ने केवल वेद शास्त्र विरुद्ध विचारों का खण्डन किया है। खण्डन किसने नहीं किया? शंकराचार्य जी, गुरु नानक, गुरु गोविन्दसिंह, महात्मा कबीर सभी ने मूर्ति पूजा, अंधविश्वासों, कुरीतियों का खण्डन किया है। अन्यथा महर्षि दयानन्द ने तो उनकी प्रशंसा जो की है, उसे क्यों भूल गये? देखिये वे लिखते हैं– 'नानक जी का आशय तो अच्छा था।..... यह सच है कि जिस समय नानक जी पंजाब में हुए थे, उस समय पंजाब संस्कृत विद्या से सर्वथा रहित मुसलमानों से पीड़ित था। उस समय उन्होंने कुछ लोगों को बचाया.... । .....इसमें उनके चेलों का दोष है नानक जी का नहीं। जो नानक जी ने कुछ भक्ति विशेष ईश्वर की लिखी थी, उसे करते आते तो अच्छा था। 'स.प्र. ११' इस प्रकार महर्षि दयानन्द नानक जी के गुण विशेषों की प्रशंसा ही कर रहे हैं, लेकिन भ्रान्ति फैलाने वाले को महर्षि दयानन्द जी द्वारा नानक जी की आलोचना ही दिख रही है, प्रशंसा नहीं।

ग. भ्रान्ति फैलाने वाले आर्य संस्कृति को सतयुग से मान रहे हैं– यह भ्रामक मान्यता है। आर्य संस्कृति तो आदि सृष्टि से चली आ रही है, जिसको एक अरब छियानवे करोड़ आठ लाख तरेपन हजार एक सौ पन्द्रह वर्ष (सन् २०१४ के अनुसार) हो चुके हैं। रही बात महर्षि दयानन्द द्वारा कलयुग में आर्यसमाज के गठन की तो महर्षि जी महाराज ने मृतप्राय हो चुकी आर्य संस्कृति को पुनः जीवित करने के लिए, आदि सृष्टि में ब्रह्मा से लेकर जैमिनि महर्षि पर्यन्त जो सत्य सनातन वैदिक विचारधारा चली आई थी, उसी के अनुसार उसी सनातन आर्य संस्कृति आर्यसमाज का गठन

किया था, न कि कोई नवीन मत चलाया था।

घ. आर्यसमाज के सिमटने का कारण अपने अनुयाइयों की श्रेष्ठता का अहंकार कहा सो भी गलत है। चूँकि आर्यसमाज वेदानुकूल बातों को ही मानता है, अतः उसकी बातें श्रेष्ठ क्यों न हों? इस श्रेष्ठता पर आर्यसमाजियों को स्वाभिमान है, उसे मिथ्या अहंकार की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

हमें लगता है कि भ्रान्ति फैलाने वाले महाशय आर्य समाज के विषय में बहुत कम जानकारी रखते हैं। आर्यसमाज की अनेक वेबसाइट खोलकर देखिए, भ्रम दूर होगा। वेदादि शास्त्रों की रक्षा के लिए शतशः छात्र, ब्रह्मचारी आर्यसमाज के आर्ष गुरुकुलों में अध्ययन कर रहे हैं। हजारों विद्यार्थी परीक्षा पद्धति से चल रहे आर्ष गुरुकुलों में अध्ययन कर रहे हैं। लाखों लोग आर्यसमाज से जुड़े हुए हैं। इतना सब होते हुए भी आर्यसमाज सिमटता दिखाई दे रहा है, आश्चर्य है। हिन्दू घटते जा रहे हैं और ईसाई, मुसलमानों की संख्या बढ़ रही है। इसका क्या कारण है?

ङ. आर्यसमाजी बनना कहलाना एक गर्व की बात है, न कि अपमान की। वैसे तो ये लोग आर्य संस्कृति की बात करते हैं। यदि ये आर्यसमाज के अर्थ और उद्देश्य को जानते तो इनको ऐसी चिढ़ कभी न होती। इनके साथ ऐसा इसलिए है, क्योंकि ये आर्य संस्कृति का अर्थ- देवी-देवताओं की मूर्तियों की पूजा करना मानते हैं, मृतक श्राद्ध और अन्धविश्वास पाखण्ड को मानते हैं, जिनका वैदिक सनातन आर्य संस्कृति से कोई लेना-देना नहीं है। आर्य संस्कृति तो एक निराकार परमेश्वर की उपासना करना, वेद का पढ़ना-पढ़ाना, ब्रह्मयज्ञादि पाँच महायज्ञों का करना है, न कि पाखण्ड, अन्धविश्वास को मानना।

जिज्ञासा २ - मृत्यु के बाद आत्मा दूसरा शरीर कितने दिनों के अन्दर धारण करता है? किन-किन योनियों में प्रवेश करता है? मनुष्य की आत्मा पशु-पक्षियों की योनियों में जन्म लेने के बाद फिर लौट के मनुष्य योनियों

को प्राप्त करने में कितना समय लगता है? आत्मा माता-पिता के द्वारा गर्भधारण करने से शरीर धारण करता है यह मालूम है, लेकिन आधुनिक पद्धतियों के द्वारा टेस्ट ट्यूब बेबी, सरोगसि पद्धति, गर्भधारण पद्धति, स्पर्म बैंकिंग पद्धति आदि में आत्मा उतने दिनों तक स्टोर किया जाता है क्या? यह सारा विवरण बताने का कष्ट करें।

- एन. रणवीर, नलगोंडा, तेलंगाना

समाधान - मृत्यु के बाद आत्मा कब शरीर धारण करता है, इसका ठीक-ठीक ज्ञान तो परमेश्वर को है, किन्तु जैसा कुछ ज्ञान हमें शास्त्रों से प्राप्त होता है, वैसा यहाँ लिखते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में मृत्यु व अन्य शरीर धारण करने का वर्णन मिलता है। वर्तमान शरीर को छोड़कर अन्य शरीर प्राप्ति में कितना समय लगता है, इस विषय में उपनिषद् ने कहा-

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानम्
उपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां
गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्य आत्मानमुपसंहरति।।

- बृ. ४.४.३

जैसे तृण जलायुका (सुंडी=एक कीड़ा विशेष) तिनके के अन्त पर पहुँच कर, दूसरे तिनके को सहारे के लिए पकड़ लेती है, अथवा पकड़ कर अपने-आपको खींच लेती है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीररूपी तिनके को परे फेंक कर, अविद्या को दूर कर, दूसरे शरीर रूपी तिनके का सहारा लेकर अपने-आपको खींच लेता है। यहाँ उपनिषद् संकेत कर रहा है कि मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त होने में इतना ही समय लगता है, जितना कि एक कीड़ा एक तिनके से दूसरे तिनके पर जाता है, अर्थात् दूसरा शरीर प्राप्त होने में कुछ ही क्षण लगते हैं, कुछ ही क्षणों में आत्मा दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है। आपने पूछा है- आत्मा कितने दिनों में दूसरा शरीर धारण कर लेता है, यहाँ शास्त्र दिनों की बात नहीं कर रहा, कुछ क्षण की ही बात कह

रहा है।

मृत्यु के विषय में उपनिषद् ने कुछ विस्तार से बताया है, उसका भी हम यहाँ वर्णन करते हैं–

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्यसंमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति।।

– बृ. उ.४.४.१

अर्थात् जब मनुष्य अन्त समय में निर्बलता से मूर्छित–सा हो जाता है, तब आत्मा की चेतना शक्ति जो समस्त बाहर और भीतर की इन्द्रियों में फैली हुई रहती है, उसे सिकोड़ती हुई हृदय में पहुँचती है, जहाँ उसकी समस्त शक्ति इकट्ठी हो जाती है। इन शक्तियों के सिकोड़ लेने का इन्द्रियों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका वर्णन करते हैं कि जब आँख से वह चेतनामय शक्ति जिसे यहाँ पर चाक्षुष पुरुष कहा है, वह निकल जाती है, तब आँखें ज्योति रहित हो जाती है और मनुष्य उस मृत्यु समय किसी को देखने अथवा पहचानने में अयोग्य हो जाता है।

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकी भवति, न जिघ्रतीत्याहुरेकी भवति, न रसयत इत्याहुरेकी भवति, न वदतीत्याहुरेकी भवति, न शृणोतीत्याहुरेकी भवति, न मनुत इत्याहुरेकी भवति, न स्पृशतीत्याहुरेकी भवति, न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति, सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।।

– बृ.उ. ४.४.२

अर्थात् जब वह चेतनामय शक्ति आँख, नाक, जिह्वा, वाणी, श्रोत्र, मन और त्वचा आदि से निकलकर आत्मा में समाविष्ट हो जाती है, तो ऐसे मरने वाले व्यक्ति के पास बैठे हुए लोग कहते हैं कि अब वह यह नहीं देखता, नहीं सूँघता इत्यादि। इस प्रकार इन समस्त शक्तियों को लेकर यह जीव हृदय में पहुँचता है और जब हृदय को छोड़ना चाहता है तो आत्मा की ज्योति से हृदय का अग्रभाग प्रकाशित हो उठता है। तब हृदय से भी उस ज्योति चेतना की शक्ति को लेकर, उसके साथ हृदय से निकल जाता है। हृदय से निकलकर वह जीवन शरीर के किस भाग में से निकला करता है, इस सम्बन्ध में कहते है कि वह आँख, मूर्धा अथवा शरीर के अन्य भागों-कान, नाक और मुँह आदि किसी एक स्थान से निकला करता है। इस प्रकार शरीर से निकलने वाले जीव के साथ प्राण और समस्त इन्द्रियाँ भी निकल जाया करती हैं। जीव मरते समय 'सविज्ञान' हो जाता है अर्थात् जीवन का सारा खेल इसके सामने आ जाता है। इस प्रकार निकलने वाले जीव के साथ उसका उपार्जित ज्ञान, उसके किये कर्म और पिछले जन्मों के संस्कार, वासना और स्मृति-सब जाया करती हैं।

इस प्रकार से उपनिषद् ने मृत्यु का वर्णन किया है, अर्थात् जिस शरीर में जीव रह रहा था, उस शरीर से पृथक् होना मृत्यु है। उस मृत्यु समय में जीव के साथ उसका सूक्ष्म शरीर भी निकलता है।

आपने पूछा- जीव किन-किन योनियों में प्रवेश करता है? इसका उत्तर यह है कि जिन-जिन योनियों के कर्म जीव के साथ होते हैं, उन-उन योनियों में जीव जाता है। यह वैदिक सिद्धान्त है, यही सिद्धान्त युक्ति तर्क से भी सिद्ध है। कुछ वेद-विरुद्ध पंथ यह मानते हैं कि मनुष्य का अगला जन्म भी मनुष्य ही होगा। ये लोग भूल जाते हैं कि जिसने घोर पाप कर्म किये हैं, वह इन पाप कर्मों का फल इस मनुष्य शरीर में भोग ही नहीं सकता, इन पाप कर्मों को भोगने के लिए जीव को अन्य शरीरों में जाना

पड़ता है। वेद कहता है-

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँऽस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।

– यजु. ४०.३

इस मन्त्र का भाव यही है कि जो आत्मघाती=घोर पाप कर्म करने वाले जन है, वे मरकर घोर अन्धकार युक्त=दुःखयुक्त तिर्यक योनियों को प्राप्त होते हैं। ऐसे-ऐसे वेद के अनेक मन्त्र हैं जो इस प्रकार के कर्मफल को दर्शाते हैं।

इस विषय में हम अपनी बात न कहकर, जो कुछ महर्षि दयानन्द ने लिखा है, उसको यहाँ लिखते हैं-

प्रश्न- मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य के शरीर में और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में आता-जाता है वा नहीं?

उत्तर- हाँ, जाता-आता है। जब पाप बढ़ जाता, पुण्य न्यून होता है, तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है, तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता है और जब पुण्य पाप बराबर होता है, तब साधारण मनुष्य का जन्म होता है। इनमें भी पाप-पुण्य के उत्तम, मध्यम, निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट शरीरादि सामग्री वाले होते हैं और जब अधिक पाप का फल पश्वादि के शरीर में भोग लिया है, पुनः पाप-पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य शरीर में आता और पुण्य के फल भोगकर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है। जब शरीर छोड़ता है, तब यमालय अर्थात् अकाशस्थ वायु में रहता है। क्योंकि **'यमेन वायुना'** वेद में लिखा है कि यम नाम वायु का है, गरुड़ पुराण का कल्पित यम नहीं।......पश्चात् धर्मराज अर्थात् परमेश्वर उस जीव के पाप पुण्यानुसार जन्म देता है। वह वायु, अन्न, जल अथवा

शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। जो प्रविष्ट हो वीर्य में जा, गर्भ में स्थित हो, शरीर धारण कर बाहर आता है, जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो स्त्री और पुरुष के योग्य कर्म हों तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है और नपुंसक गर्भ की स्थिति के समय स्त्री-पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करके रजवीर्य के बराबर होने से होता है। इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म-मरण में तब तक जीव पड़ा रहता है कि जब तक कर्मोपासना ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता। क्योंकि उत्तम कर्मादि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्प पर्यन्त जन्म-मरण दुःखों से रहित होकर आनन्द में रहता है। (सत्यार्थप्रकाश समुल्लास-९) महर्षि के इन वचनों से आपके प्रश्न कि मनुष्य का आत्मा किन योनियों में प्रवेश करता है, क्या अन्य योनियों से मनुष्य योनि में आता है, मनुष्य योनि में आने में कितना समय लगता है? इनका उत्तर आ गया है।

आपने जो अन्तिम बात पूछी कि आधुनिक पद्धति द्वारा टेस्ट ट्यूब बेबी से बच्चा पैदा करते हैं तो क्या वहाँ आत्मा रहता है, इसका उत्तर है कि हाँ, वहाँ आत्मा रहता है, क्योंकि बच्चा उत्पन्न करने के लिए रज-वीर्य का संयोग चाहिए। जब-जब रज-वीर्य का विधिवत् ठीक-ठीक संयोग का समय होगा तो वहाँ परमेश्वर की व्यवस्था से संयोग समय नये शरीर के लिए आत्मा आयेगा। इसलिए उस टेस्ट ट्यूब बेबी में भी रज-वीर्य को संयुक्त करके रखा जाता है, इस कारण वहाँ आत्मा रहता है जिससे एक नवीन शरीर का निर्माण होता है। ऐसा ही कृत्रिम गर्भधारण में समझें। रही बात स्पर्म बैंकिंग की तो वहाँ स्टोर किये वीर्य में शरीर धारण करने वाला आत्मा नहीं रहता। शरीर धारण करने वाला आत्मा तो जैसा हमने ऊपर कहा कि जब-जब रज वीर्य यथावत् मिलेंगे, वहाँ जीव परमेश्वर की व्यवस्था से आयेगा।

जिज्ञासा ३ - क्या आधुनिक वैज्ञानिक लोग ऋषि नहीं हैं? जिन्होंने

छोटे से बड़े अनेक प्रकार वैज्ञानिक यन्त्र मशीने बना कर आम आदमी को आराम पहुँचाया, परहित में ये सब आविष्कार किए, क्या यह बड़ी लोक सेवा नहीं ? सिलाई मशीन, साइकिल, मोटर साइकिल, कार, हवाई जहाज, रेलगाड़ी, टेलीफोन और अन्तिम मोबाइल फोन आदि क्या लोक सेवा नहीं ? इन वैज्ञानिकों को ऋषि का दर्जा क्यों नहीं दिया जाना चाहिए ? यह तथ्य है, जो सबको स्वीकार्य है।

हम लोग मूर्ति-मन्दिर पूजा, अवतार, ढोंग में ही फँसे रहे। धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के पाखण्ड करते रहे। महर्षि दयानन्द ने लोगों को जगाया कि तुम कहाँ गहरे अन्धकार में डूबे हो। सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत बने, इसीलिए महर्षि कहलाए।

तो क्या आधुनिक वैज्ञानिक लोग जिन्होंने आम आदमी के सुख-सुविधा के लिए आविष्कार कर लोक कल्याण का मार्ग अपनाया, ऋषि महर्षि नहीं ? यह जिज्ञासा विचार का विषय है।

इस पर किस रूप में विचार करना चाहिए ?

ये वैज्ञानिक ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते थे या नहीं, यह अलग विषय है, किन्तु इन्होंने लोगों का बड़ा उपकार किया- एक ध्रुव सत्य है। ये वैज्ञानिक लोग प्रायः विदेशी ही रहे। हमारे देश के ऐसे नामचीन (मशहूर) कितने वैज्ञानिक हैं, यह चिन्तनीय विषय है।

इन तथ्यों को सामने रखकर इस महती जिज्ञासा का समाधान अपेक्षित है।

- डॉ. एस.एल. वसन्त, बी-१३८४, नागपाल स्ट्रीट, फजिल्का, पंजाब

समाधान - आपने आधुनिक वैज्ञानिकों को ऋषि कोटि में कहा जाये या नहीं- यह जानना चाहा है। इस विषय में शास्त्र ऋषि किसको कहते हैं ? वह देख लेते हैं। यह देखने के पश्चात् अपने-आप निर्णय हो जायेगा

कि आज के आधुनिक वैज्ञानिक ऋषि हैं या नहीं। महर्षि यास्क अपने निरुक्त शास्त्र में ऋषि की परिभाषा लिखते हैं- **साक्षात् कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।** अर्थात् वेदार्थ को स्वयं समझ लेने वाले ऋषिगण होते हैं, अर्थात् मन्त्रों के अर्थ द्रष्टा को ऋषि कहते हैं। महर्षि दयानन्द ने भी ऋषि की परिभाषा यही की है- **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो।** ऋ. १.१.१.२

इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि लिखते हैं- 'ऋषिभिः' 'मन्त्रार्थ देखने वाले विद्वान्' और चरक में भी आप्त=ऋषि का लक्षण लिखा है-

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानवलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा।।
आप्ताः शिष्टा निबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः।।

जो तपोबल एवं ज्ञानबल के द्वारा रजोगुण और तमोगुण से भली भाँति मुक्त हैं, जिनका सम्पूर्ण ज्ञान तीनों कालों में मलरहित अर्थात् दोषरहित है- ऐसे महापुरुष आप्त=प्रामाणिक, शिष्ट=सभ्य एवं विबुद्ध=विशेष ज्ञानवान् होते हैं। इनके वाक्य अर्थात् सत्योपदेश युक्त वचन विश्वास के योग्य होते हैं। वे लोग रजोगुण और तमोगुण से रहित होने के कारण ही सदा सत्य भाषण करते हैं न कि असत्यभाषण।

यह परिभाषा शास्त्रों में ऋषि=आप्त की दी हुई है। अब यदि ये आधुनिक वैज्ञानिक इस परिभाषा के अनुसार हैं तो ऋषि कहला सकते हैं, यदि नहीं है तो वे ऋषि नहीं हो सकते।

हाँ, ऋषियों में मन्त्रार्थ देखने के साथ-साथ सभी प्राणियों के कल्याण की भावना होती है। प्रकृति को समझ उससे सदुपयोग लेने का गुण होता है। **इसके अनुसार जो वैज्ञानिक जितने अंश में प्राणी कल्याण की भावना से युक्त, प्रकृति का सदुपयोग करने वाला है, वह उतने अंश में ऋषि है, ऋषि कहला सकता है। ऋषि लोग पूर्ण ईश्वर**

विश्वासी, ईश्वर का साक्षात् दर्शन करने वाले, वेद को यथार्थ रूप से जानने वाले होते हैं। सदा अपने व अन्य आत्माओं का भला सोचने व करने वाले होते हैं। ऋषियों के इन गुणों के अनुसार जो वैज्ञानिक ईश्वर विश्वासी, ईश्वर दर्शन करने व वेद को जानने-मानने वाला तथा अपना व अन्यों का भला करने व सोचने वाला है, उसको आप ऋषि कह सकते हैं।

वर्तमान के वैज्ञानिक जो आस्तिक हैं, ईश्वर को मानने वाले हैं, उनको छोड़कर जो कि खोज मात्र करने में लगे हैं, वह खोज धर्म पूर्वक है या अधर्म पूर्वक इस पर विचार न करते हुए लगे हैं तथा ऐसी खोजें जो मानव व अन्य प्राणियों के लिए घातक हो सकती हैं, उनको ऋषि कैसे कह सकते हैं?

आज का युग अर्थ प्रधान बना दिया गया है, इस अर्थ प्रधान युग में कितने ही वैज्ञानिकों को कोई कम्पनी खरीद लेती है और उनसे अधिक से अधिक पैसा कमाया जाये, वे खोजें करवाई जाती हैं। **आज सब्जियों में मिले जहर को देखिए। जो सब्जी ऊपर से ताजा व सुन्दर दिखती है, वह कितने जहर से युक्त होती है? यह जहरीली सब्जी किसने तैयार की, करवाई? आज के वैज्ञानिक ने। टमाटर के गुणसूत्र और मछली के गुणसूत्र को मिलाकर एक उन्नत किस्म का टमाटर किसने बनाया? आज के वैज्ञानिक ने। जो केवल अर्थ के लिए खोज करता है, केवल अपने प्रयोजन के लिए खोज करता है, वह ऋषि तो क्या, मनुष्य भी कदापि नहीं कहला सकता।**

आपका कथन है कि जिन वैज्ञानिकों ने आम आदमी को दृष्टि में रखते हुए उनकी सुख-सुविधाओं के लिए खोज की, लोक कल्याण का मार्ग अपनाया, वे ऋषि महर्षि क्यों न हों? इसके लिए हमने ऊपर स्पष्ट कर दिया। जितने अंश में ऋषि गुणों से वे मेल खाते हैं, उतने अंश में ऋषि हो

सकते हैं, उनको ऋषि कहने में दोष नहीं, किन्तु आज के वैज्ञानिक सर्वांश में ऋषि नहीं हो सकते।

आपने कहा- ये वैज्ञानिक ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं या नहीं- यह अलग विषय है.....। यथार्थता तो यह है कि जब हम ईश्वर अलग रख देंगे, तब हम जगत् का पूर्ण भला कर ही नहीं सकते। ईश्वर के माने बिना व्यक्ति पूर्ण धार्मिक नहीं हो सकता। जब तक व्यक्ति पूर्ण धार्मिक नहीं, तब तक वह सबके लिए उपकारी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में ऋषि संज्ञा से वह परे ही है।

ये वैज्ञानिक प्राय: विदेशी ही हैं, ऐसा नहीं है। आज भी हमारे देश में ऐसे प्रतिभा सम्पन्न वैज्ञानिक हैं, जिनको विदेशी लिए बैठे हैं अथवा हमारे लोग विदेश जा बैठे। आज हमारे देश के वैज्ञानिकों ने सुपर कम्प्यूटर की खोज और उससे भी आगे की खोज भी कर रखी है। मंगल यान को भेजने वाले हमारे ही देश के वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने अमेरिका से बहुत कम खर्च में और बहुत कम दिनों में मंगल पर मंगल यान को भेज दिया। हमारे ही देश में दुनिया का सबसे बड़ा भाषा वैज्ञानिक महर्षि पाणिनी हुआ, जिसके भाषा विज्ञान को समूचा वैज्ञानिक संसार प्रणाम करता है। हमारे ही देश के प्रकृति के महान् वैज्ञानिक महर्षि कणाद हुए, जो प्रकृति के अन्तिम छोर तक गये, जिस छोर तक आज वैज्ञानिक जाने की कल्पना भी नहीं कर रहा। महर्षि भारद्वाज अद्भुत विमानों की खोज करने वाले इसी भारत भूमि के थे, जिन्होंने वृहद् विमान शास्त्र की रचना की, जिसके आधार पर हमारे ही देश के श्रीमान् शिवकर बापू तलपदे ने अमेरिका के राईट बन्धुओं से कई वर्ष पूर्व विमान की रचना कर मुम्बई में उड़ा कर दिखाया। जिस चालक रहित विमान की खोज आज के वैज्ञानिकों ने बहुत बाद में की, उस चालक विमान को इन्हीं तलपदे जी ने पहली बार में ही बना डाला था।

रसायन शास्त्र के महावैज्ञानिक नागार्जुन हमारे देश के थे। शल्य

चिकित्सा के खोजी हमारे ही देश के थे, जिसका प्रमाण 'सुश्रुत' में मिलता है। आधुनिक गणितज्ञों में श्री निवास रामानुजम् का नाम समग्र विश्व में बड़े ही आदर से लिया जाता है, वे भी इसी देश के थे। आर्यभट्ट, भास्कराचार्य, वराहमिहिर, जगदीश चन्द्र बसु आदि न जाने कितने वैज्ञानिक इसी भारत भूमि के ही थे।

हाँ, दासता के लम्बे युग के कारण विदेशी इस दिशा में आगे निकल गये।

जिज्ञासा ४- मेरी जिज्ञासा वर्तमान की आश्रम व्यवस्था पर है, उसमें भी संन्यास आश्रम पर। महर्षि दयानन्द जी ने एक आदर्श संन्यास को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। वर्तमान में आर्यसमाज वा अन्यत्र कुछ संन्यासियों को छोड़ ऋषि की कसौटी पर नहीं उतर रहे। मेरी जिज्ञासा है- १. संन्यासी कहते किसको हैं? २. संन्यास का अधिकारी कौन है? ३. संन्यास कब लेना चाहिए? ४. संन्यासी का कर्त्तव्य क्या है? इन सभी को बताने की कृपा करें।

- विक्रम आर्य, कटोसन, धनपुरा, मेहसाना

समाधान- समाज को उन्नत, शिक्षित व सभ्य बनाने के लिए ऋषियों ने मनुष्य जीवन को चार भागों में बाँटा है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। यूँ तो ये चारों आश्रम ही अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठ हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम न हो तो व्यक्ति शिक्षित व विद्वान् न हो पाये, गृहस्थ के बिना लोक व्यवहार में व्यक्ति अधूरा रह जाये, वानप्रस्थ के बिना व्यक्ति का जीवन चिन्तन-मनन और तपस्या का अभ्यासी व एकान्त सेवी नहीं हो पाता और चतुर्थ आश्रम संन्यास के बिना पूर्ण विज्ञान को प्राप्त न होकर मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता।

आपकी जिज्ञासा के अनुसार यहाँ चौथे आश्रम संन्यास के विषय में ही लिखते हैं। संन्यास की महत्ता बताते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं- "जैसे

शरीर में सिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है, क्योंकि इसके बिना विद्या धर्म कभी नहीं बढ़ सकता और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़कर वर्तना दूसरे आश्रमों में दुष्कर है। जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता, क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है, उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता।" स.प्र.स. ५

यहाँ महर्षि ने संन्यास की महत्ता में बहुत बड़ी उपमा सिर की दी है। यूँ तो शरीर के सभी अङ्ग महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु सिर शरीर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। क्योंकि हाथ-पैर आदि अङ्ग किसी कारण न भी रहें तो भी शरीर चल सकता है, चलता है, किन्तु सिर किसी कारण से न रहे तो शरीर तत्काल काम करना बन्द कर देता है। इसी प्रकार समाज में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ ये सभी महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु संन्यास आश्रम अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संन्यासी समाज को दिशा देता है, मार्ग दिखाता है। जैसे सिर (मुख मण्डल) में आँख, कान, नासिका आदि इन्द्रियाँ हैं और इनके कारण हमें जगत् के पदार्थों का बोध होता रहता है, वैसे ही संन्यासी के ब्रह्मज्ञान, तप, त्याग, वैराग्य आदि के कारण समाज को दिशा बोध होता रहता है।

१. महर्षि दयानन्द की भाषा में संन्यासी उसको कहते हैं, "जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़ के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे अर्थात् **सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्यकर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स संन्यासः, संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी।**" सं.वि. अर्थात् जिसके द्वारा अधर्माचरणों को अच्छे प्रकार छोड़ा जाता है अथवा जिसके द्वारा सत्कर्मों में नित्य ही

अच्छे प्रकार स्थिर होना होता है, उसको संन्यास कहते हैं और जिसमें इस प्रकार का संन्यास विद्यमान है, उसको संन्यासी कहते हैं, वह संन्यासी कहाता है। **महर्षि के इस संन्यास में दो मुख्य बाते हैं, एक अधर्म को छोड़ना और दूसरा सत्कर्मों में स्थिर होना। बिना योग्यता के मात्र काषाय वस्त्र धारण करने का नाम संन्यास नहीं है।**

२. संन्यास लेने का अधिकारी केवल ब्राह्मण है। यहाँ ब्राह्मण से जातिगत ब्राह्मण न लेवें, अपितु जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकार प्रिय मनुष्य है, उसी का नाम ब्राह्मण है। ऐसा व्यक्ति संन्यास लेकर जगत् का अधिक उपकार कर सकता है। संन्यास का अधिकारी अनपढ़, गँवार, स्वार्थी, विषय लम्पट, लोभी कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा व्यक्ति जगत् का कल्याण तो क्या, अपना भी उद्धार नहीं कर सकता। संन्यास का अधिकारी बालक कदापि भी नहीं है। बालक अर्थात् **''अज्ञो भवति वै बालः''**।

३. संन्यास कब लेवें, इस विषय में महर्षि लिखते हैं-

''यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा।''

जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन, चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण करे, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है। **''ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्''** यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे .....वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्य को पूर्ण कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवें। सं.वि.

महर्षि की इन पंक्तियों से ज्ञात हो रहा है **कि संन्यास में मुख्य वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना है। जब व्यक्ति के अन्दर वैराग्य और यथार्थ ज्ञान हो वही समय संन्यास लेने का है, उस समय**

व्यक्ति को संन्यास ले लेना चाहिए। कई बार व्यक्ति भावनाओं में बहकर संन्यास ले बैठता है अथवा घोषणा कर बैठता है कि मैं अपनी चल-अचल सम्पत्ति को स्वाहा करके अमुक दिन संन्यास ले लूँगा, किन्तु वर्षों बाद भी व्यक्ति इस काम को नहीं कर पाता। इसमें कारण वैराग्य व यथार्थ ज्ञान का न होना ही है। चल-अचल सम्पत्ति छोड़ने का नाम संन्यास नहीं है। लाल वस्त्र धारण करने का नाम भी संन्यास नहीं है। संन्यास नाम है वैराग्य से युक्त होने का, ज्ञान-विवेक को प्राप्त होने का, परोपकार की भावना से युक्त होकर जन कल्याण करने का। यदि ये सब हैं तो वह काल संन्यास लेने का है।

४. संन्यासी संन्यास लेकर क्या करे? उसका कर्त्तव्य क्या है? इस विषय में महर्षि दयानन्द का मत है- ''संन्यासी.... परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे, न वेद विरुद्ध कुछ माने, परमेश्वर के स्थान में सूक्ष्म वा स्थूल तथा जड़ और जीव को भी कभी न माने.....जिस-जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा माता-पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूट कर प्रेम बड़े, उस-उस का उपदेश करे। जो वेद विरुद्ध मत-मतान्तर के ग्रन्थ बाइबिल, कुरान, पुराण, मिथ्यामिलाप तथा काव्यालङ्कार कि जिनके पढ़ने-सुनने से मनुष्य विषयी और पतित हो जाते हैं, उन सबका निषेध करता रहे। विद्वान् और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव तथा विद्या, योगाभ्यास, सत्संग और सत्यभाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ और विद्वानों की मूर्तियों से भिन्न पाषाणादि मूर्तियों को न माने-मनवावे।..... किन्तु वैदिक मत की उन्नति और वेद-विरुद्ध पाखण्ड मतों के खण्डन करने में सदा तत्पर रहे।'' सं.वि.

यहाँ महर्षि कह रहे हैं कि संन्यासी वेदविरुद्ध मत, ग्रन्थों-बाइबिल, कुरान, पुराण आदि का सदैव खण्डन करता रहे। आज हम देखते हैं, कई संन्यासी इन्हीं वेदविरुद्ध ग्रन्थों का महिमा मण्डन कर रहे हैं। एक शंकराचार्य

ने तो मुस्लिम सभा में जाकर कुरान के एक ही कलमे को वेदों का निचोड़ कह दिया, पूरी कुरान की तो महिमा ही क्या? एक को आर्यों (हिन्दुओं) का अपमान और कुरान, बाइबिल की प्रशंसा में आनन्द आता है। एक संन्यासी ने तो अपनी पुस्तक में इन वेदविरुद्ध ग्रन्थों को धार्मिक ग्रन्थों के रूप में प्रकट कर दिया। वैदिक संन्यास ऐसा करने को कदापि नहीं कहता।

जिज्ञासा ५ - ग्रन्थों में पढ़ने से पता चलता है कि मनुष्य की तीन अवस्थाएँ होती हैं- जाग्रत अवस्था, सुषुप्ति अवस्था और स्वप्नावस्था। जाग्रत अवस्था में हम जागकर सभी सांसारिक काम करते हैं। सुषुप्तावस्था में नींद की गोद में होते हैं। स्वप्नावस्था में हम सपनों के संसार में खो जाते हैं। जो कुछ हमने संसार में देखा है, उसी की झलक हम स्वप्न में देखते हैं। अच्छे और बुरे सपने भी देखते हैं। जैसे विचार करेंगे, वैसे देखते हैं। एक बात समझ से बाहर है कि जो व्यक्ति जन्म से अन्धा है, जिसने संसार को देखा ही नहीं, टटोल-टटोलकर जीता है, दूसरे के आश्रित रहता है, क्या उसे भी स्वप्न आते हैं या नहीं? यही समझ में नहीं आता है। आपके विचार में समस्या का तत्त्व निकल ही जायेगा।

- सोनालाल नेमधारी, कारोलिन, बेल प्रट, मॉरिशस

समाधान - स्वप्न उसी को आते हैं, जिसके संस्कार हमारे मन पर पड़े होते हैं अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द, इनके द्वारा जो सुख-दुःख की अनुभूति हुई है उसके। जिन मनुष्यों के आँख आदि पाँचों इन्द्रियाँ हैं, उनको रूप, रस आदि इन सब के स्वप्न आयेंगे और जो जन्मान्ध हैं, स्वप्न तो निश्चित रूप से इनको भी आयेंगे, किन्तु इनको रूप के स्वप्न नहीं आयेंगे अन्य शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस इन सबके आयेंगे। इसी प्रकार जिसको जो इन्द्रिय नहीं अर्थात् कान, नाक, जिह्वा, त्वचा इनमें से जो नहीं है, उस-उसके विषय को छोड़कर अन्य विषयों के स्वप्न आयेंगे। यह तो निश्चित ही है कि स्वप्न तो सबको आते ही हैं।

जिज्ञासा ६- कभी आर्य प्रतिनिधि सभा लखनऊ द्वारा इलाहाबाद हाईकोर्ट में एक याचिका दायर की गई थी, जिसमें यह कहा गया था कि हम आर्यसमाजियों को हिन्दुओं से पृथक् अल्पसंख्यक घोषित किया जाय, परन्तु मान्य हाईकोर्ट द्वारा आर्यसमाजियों को यह सुविधा प्रदान नहीं की गई।

तब आर्य प्रतिनिधि सभा लखनऊ ने इस आशय की अपील सुप्रीम कोर्ट में दायर की, लेकिन सुप्रीम कोर्ट ने भी आर्यसमाजियों को हिन्दुओं से पृथक् अल्पसंख्यक घोषित न करके यह निर्णय दिया था कि आर्यसमाजी हिन्दुओं से पृथक् नहीं, बल्कि हिन्दुओं का विशुद्ध (क्रीम) अभिन्न अंग हैं। अस्तु इस तथ्य की पुष्टि में उचित समाधान करने की कृपा करें।

- शिवप्रसाद आर्य, मु. बिजली खेरा, सी.एम.ओ. बंगला के सामने बांदा, उत्तर प्रदेश

समाधान - आर्यसमाजियों को अल्पसंख्यक घोषित करवाने के लिए लखनऊ सभा न्यायालय में गई, इसकी कुछ ही पुष्टि हुई। माननीय सत्येन्द्र सिंह जी (मेरठ) ने इलाहाबाद तक की बात को पुष्ट किया। आगे क्या हुआ, इसकी जानकारी प्राप्त न हो सकी। आप इस विषय में लखनऊ सभा से सम्पर्क करके कृपया, अधिक जानकारी प्राप्त कर लेवें। हाँ, इस विषय में इतना अवश्य कहेंगे कि आर्यसमाजियों को अल्पसंख्यक घोषित कराने के लिए जो भी न्यायालय गया, उसने गलत किया, क्योंकि अल्पसंख्यकता की नीति देश के लिए घातक है, देश को तोड़ने वाली है, भारतीय जनसमुदाय को खण्डित करने वाली है। जो भी इस नीति का समर्थन करता है, वह देश के लिए हानिकारक बातों का समर्थक है, समर्थन कर रहा है। आर्यसमाज की ओर से इस विषय में जिसने प्रयास किया, हो सकता है उसके कुछ निजी स्वार्थ हों, अपनी संस्थाएँ चला रहा हो अथवा इसकी हानियाँ न जानता हो।

अल्पसंख्यक है कौन? इस देश में वैज्ञानिक कम हैं, विद्वान् कम हैं, डॉक्टर, इन्जीनीयर कम हैं, गरीबों की अपेक्षा धनी कम हैं, छात्रों की अपेक्षा अध्यापक कम हैं, जो भी अधिकों की अपेक्षा कम है, वही अल्प है, अल्पसंख्यक है। किन्तु सरकार की दृष्टि से इस देश के अन्दर हिन्दुओं (आर्यों) को छोड़कर मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, जैन, सिख, पारसी आदि सब अल्पसंख्यक हैं और यह सब सम्प्रदाय (मजहब) की दृष्टि से हैं। सरकार की यह दृष्टि केवल वोट के कारण है। सरकार हिन्दुओं से अतिरिक्तों को अल्पसंख्यक घोषित कर उनकी अतिरिक्त सहायता करके अपने वोट पक्के करती है। देश में अल्पसंख्यक मन्त्रालय बना रखा है। इसका मन्त्री भी अल्पसंख्यक में से है। जो समुदाय इस देश के लिए सबसे बड़ी समस्या है, आगे समस्या बनेगा, पैदा करेगा, उसी समुदाय का मन्त्री इस मन्त्रालय का है। क्या प्रत्येक व्यक्ति इस देश में रहने वाला भारतीय नहीं है और यदि अपने को भारतीय मानता है तो अल्पसंख्यक कहाँ रहा, बहुसंख्यक हो गया। यदि कोई इस देश में रहता है, इस देश से सहायता सुरक्षा पाता है और गीत किसी अन्य देश के गाता है तो सरकार को उचित है कि उसको उसी देश में भेज देवे अथवा उसकी सहायता-सुरक्षा सब बन्द कर दे, यही न्याय है।

सभी मानव, मानव हैं इस दृष्टि से कोई अल्पसंख्यक नहीं है। कमजोर की, हीन की सहायता करनी ही चाहिए, करनी ही होती है, यही मानवता है, किन्तु उसकी सहायता सहयोग करते हुए बलवान्, समर्थ का भय दिखाकर, उनको आक्रामक, समर्थों का विरोधी बनाना यह केवल स्वार्थ पूर्ण नीति है। यही अल्पसंख्यक नीति के तहत हो रहा है।

इस नीति की नींव अंग्रेज रख गए- फूट डालो राज करो। अंग्रेजों ने सम्प्रदाय के आधार पर, जाति के आधार पर, धनी और निर्धन के बीच भेद पैदा कर इस देश को कमजोर किया, लूटा, दबाये रखा। आज उसी नीति

को वर्तमान के शासक अधिक से अधिक पोषित कर रहे हैं, जो इस देश को रसातल में ले जाने को प्रयासरत हैं। इस देश में मुस्लिम, ईसाई आदि ही अल्पसंख्यक क्यों और कश्मीर, नागालैण्ड जैसे राज्यों में हिन्दू अल्पसंख्यक क्यों नहीं? यही है दोहरी घातक नीति, इसलिए अल्पसंख्यकता की जो बात करता है, समर्थन करता है, चाहता है, वह राष्ट्र प्रेमी प्रतीत नहीं होता।

जिज्ञासा ७ - आज अभिवादन वाचक शब्द बहुत से चल रहे हैं, उनमें नमस्ते और नमस्कार भी है। अभिवादन करते समय कौन-सा शब्द या वाक्य बोलें? कृपया, बतावें। नमस्कार और नमस्ते में से अभिवादन के लिए कौन-सा ठीक है, इनका अर्थ क्या है? बताने की कृपा करें।

अमोल आर्य, गाँव. आसोला, जि. वाशिम, महाराष्ट्र

समाधान- हम समाज में रहने वाले हैं, समाज में रहते हुए परस्पर एक-दूसरे से व्यवहार करना पड़ता है, करना होता है। हमारा व्यवहार शिष्टाचार पूर्वक हो- इसके लिए हम परस्पर एक-दूसरे से मिलते समय दूसरे के सम्मान के लिए अभिवादन करते हैं। अभिवादन करते समय हम वाणी से बोलते हैं। अभिवादन करते हुए वाणी से क्या बोलें और शरीर से किस प्रकार की क्रिया (संकेत) करें- यह विचारणीय है। आज वर्तमान में अभिवादन सूचक शब्द बहुत सारे बोले जाते हैं, जैसे- राम-राम, जय राम जी की, राधे-राधे, जय श्री कृष्ण, जय माता दी, जय भीम, सत् श्री अकाल, अस्सलामालेकुम, गुड मोरनिंग, ओम् जी, नमस्कार, नमस्ते और अपने-अपने मत वाले अपने गुरु आदि का नाम लेते हैं। इन सब में अभिवादन के लिए कौन-सा ठीक-ठीक सार्वभौमिक सब के लिए हो यह विचार कर देखें तो पता चलता है कि "नमस्ते" ही एक मात्र है, जिसके बोलने से एक दूसरे का सम्मान होता है। नमस्ते के अतिरिक्त राम-राम, ओम् जी आदि शब्दों से एक दूसरे का सम्मान नहीं होता है। ये अभिवादन

करते समय सम्मान सूचक शब्द नहीं हैं। ये किसी वर्ग विशेष के हो सकते हैं, जिनको उन वर्ग विशेष वालों ने अपनी अज्ञान से अभिवादन के लिए अपना लिया है।

राम-राम आदि को तो मान लेवें कि अभिवादन सूचक शब्द नहीं हैं, किसी वर्ग विशेष के हैं, किन्तु नमस्कार तो ऐसा नहीं है, इसको स्वीकार क्यों नहीं करते? इसका उत्तर है कि जो भाव और अर्थ नमस्ते में है, वह नमस्कार में भी नहीं हैं। **'नमस्कार' एक पद है, संज्ञा है और 'नमस्ते' एक वाक्य है। नमस्कार में दो शब्द नमः और कार हैं, ये दोनों मिलकर एक पद बना, जिसका अर्थ है- नमन करना,** झुकना, अभिवादन करना आदि। जब किसी को नमस्कार जी कहते हैं तो अर्थ निकलता है- नमन करना जी, झुकना जी आदि। नमस्कार कहने से झुकना, नमन करना, सामने वाले को है या स्वयं को है- यह पता ही नहीं चलता, किन्तु नमस्ते में ऐसा नहीं है। उसमें तो ठीक-ठीक पता चलता है कि मैं सामने वाले को नमन कर रहा हूँ। नमस्ते में नमः+ते, नमः=नमन, ते=तुम्हारे (आपके) लिए अर्थात् मेरा तुम्हारे (आपके) लिए नमन होवे=मैं आपका मान्य=सम्मान करता हूँ, आदर करता हूँ आदि भाव नमस्ते में ही हैं, अन्य अभिवादन सूचक शब्दों में नहीं।

आगे नमस्ते के विषय में 'सत्यार्थ भास्कर' से उद्धृत करते हैं- परस्पर अभिवादन के लिए नमस्ते करना ही शास्त्र सम्मत है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत तथा पुराणादि ग्रन्थों में सर्वत्र इसी का विधान किया है। अन्य जितने भी पद वर्तमान में प्रचलित हैं, वे सब अशास्त्रीय एवं कपोलकल्पित हैं। हमारे पूर्व पुरुष सदा से 'नमस्ते' का ही प्रयोग करते आये हैं। अपने कथन की पुष्टि में यहाँ कतिपय प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

यजुर्वेद के १६वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में-

नमस्ते रुद्र मन्यवऽउतो तऽइषवे नमः।

बाहुभ्यामुत ते नमः।। यजु. १६.१

नमस्ते वेदों में अनेकत्र हैं- ऋग्वेद- ८.७५.१०, अ. ६.१३.२, १२.४.४५, १३.४.४८, १.१३.१, यजु. १६.२१, अ. ११.२.२५, ११.२.३१, १०.१०.१, १.१३.२, ११.४.८, ६.१३.३, १.१०.२, यजु. १६.१, अ. ६.९०.३, यजु. १७.११, ३६.२० आदि। यजुर्वेद के १६वें अध्याय के ३०, ३२ मन्त्रों के अन्वयार्थ से स्पष्ट है कि यहाँ छोटे, बड़े, बराबर वाले सबके लिए नमस्ते से अभिवादन का निर्देश किया है। कठोपनिषद् में गुरुवर यमाचार्य नचिकेता को कहते हैं- ''नमस्ते ब्रह्मन्। स्वस्ति मेऽस्तु'' १.९। ब्रह्मवादिनी गार्गी महर्षि याज्ञवल्क्य का अभिवादन करती है- ''सा होवाच, नमस्ते याज्ञवल्क्याय।'' शत. १४.६.८.५। राजर्षि विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि वसिष्ठ से उनके आश्रम से विदा होते कहा- ''नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा।'' वा.रा.बा. ५२.१७। शकुनि मामा अपने भानजे युधिष्ठिर से- 'ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ।' श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र से- ''नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनरदम्।'' कौशल्या अपने पुत्र राम से- ''देव देव नमस्तेऽस्तु।'' हिमवान् जी अपनी पुत्री पार्वती से- ''नमस्तेऽस्तु महादेवी नमस्ते परमेश्वरी।'' कूर्म पु. १२.२३६। **नमस्ते के उत्तर में नमस्ते**- राम उवाच- ''नमस्ते देव देवेश भक्तानामभयंकर।'' उत्तर में महादेव- ''श्वेतं द्विपं स्वकं स्थानं व्रज देव नमोऽस्तुते (नमः+ते=नमस्तेऽस्तु)।'' पद्यम पु.। सावित्री- ''देव! नमोऽस्तु ते।'' ब्रह्मा जी ''पादयोः पतितस्तेऽहं.... नमोऽस्तु ते''श्वसुर दक्ष अपने जामाता महादेव जी से- ''नमो दिक्चर्मवस्त्राय नमस्ते तीव्रतेजसे।'' प.पु.सृ.खं. ५/८०

ब्रह्मा जी की भूल से उनकी पत्नी रुष्ट हो गई। रुष्ट सावित्री को मनाने के लिए उन्होंने विष्णु और लक्ष्मी को भेजा। ब्रह्मा जी की आज्ञा से वे दोनों

सावित्री को मनाने गये। सावित्री ने जब उन दोनों को आते देखा तो जल्दी से खड़ी हो गई- 'उत्तस्थौ सत्वरा भूत्वा।' तब विष्णु जी बोले- "नमस्ते देव देवेशि ब्रह्म पत्नि नमोऽस्तु ते।"

विष्णु जी आयु में सावित्री से बड़े और रिश्ते में श्वसुर थे और प्रभावशाली थे, इसलिए सावित्री को मना लाने का काम ब्रह्मा जी ने उन्हें और लक्ष्मी को सौंपा था, परन्तु वहाँ जाकर वे बातों में लग गये। देरी होती देख ब्रह्मा जी ने पार्वती और शंकर जी को भेजा। शंकर ने वहाँ जाते ही सावित्री को नमस्ते की- "दूरादेव तु रुद्रेण ब्रह्माणि चाभिवादिता, देवि नमोऽस्तु ते।" फिर शंकर जी ने पार्वती की ओर संकेत करते हुए कहा- "एषा गौरी समायाता भ्रातृभार्या तवानघा।" तुम्हारी भाभी भी मेरे साथ तुम्हें मनाकर ले जाने को आयी हैं। - प.पु.

सावित्री और गायत्री दोनों ब्रह्मा जी की पत्नियाँ थीं। सावित्री को शंकर जी बहन कहते हैं तो गायत्री (बहन की सपत्नी होने के नाते) भी उनकी बहन हुई। पहले भाई ने बहन को नमस्ते की थी तो अब दोनों बहनें (गायत्री व सावित्री) भाई शंकर जी का अभिवादन करते हुए कहती हैं- "नमस्ते गिरिजानाथ।" हे पार्वतीपते! नमस्ते। -स्कन्द पु.ब्र.खं.से.मा. ४०.३१।

यह सारी कथा काल्पनिक है। यहाँ इसे उद्धृत करने का अभिप्राय इतना ही बताना है कि पुराणों तक में छोटे-बड़े, पति-पत्नी, श्वसुर-जामाता, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, माता-पुत्र सभी अभिवादन के लिए नमस्ते का ही प्रयोग करते हैं।

गरुड़ पुराण में ५६ बार, देवी भागवत में ६६ बार, ब्रह्माण्ड में ९५ बार, कूर्म में ९९ बार, शिवपुराण में १४९ बार, भविष्य में २३० बार, पद्म में ३३५ बार और स्कन्द में (पाँचवें खण्ड तक) ५५३ बार- इस प्रकार पुराणों में ही कुल मिलाकर कम से कम १७४६ बार 'नमस्ते' का प्रयोग

हुआ है। (यहाँ पुराणों का समर्थन लेश भी नहीं है, पुराण तो कपोल कल्पित और अनार्ष हैं ही। इनका देने का अभिप्राय है कि इन पुराणों को मानने वाला जो समूह है वह भी नमस्कार के पीछे पड़ा है, वेदादि में वर्णित नमस्ते इन्होंने नहीं अपनाया।)

गृहस्थों का कर्त्तव्य कर्म का निर्देश करते हुए महर्षि दयानन्द संस्कार विधि में लिखते हैं- "सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को 'नमस्ते' अर्थात् उनका मान्य किया करें।"

व्यवहारभानु में भी लिखा है- "जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में वा किसी के पास जाकर नम्रतापूर्वक नमस्ते आदि करके..... ।" यहाँ महर्षि ने भी सर्वत्र नमस्ते को ही कहा, माना है।

नमस्ते करने का प्रकार- दोनों हाथ जोड़कर, हाथों को हृदय से (छाती के बीच) स्पर्श करते हुए, किञ्चित् नतमस्तक होकर ही 'नमस्ते' शब्द का उच्चारण करना चाहिए। मस्तिष्क ज्ञान का, हाथ शक्ति का और हृदय श्रद्धा व प्रेम का केन्द्र है। सो हृदय को स्पर्श करते हुए, हाथ जोड़ किञ्चित् नतमस्तक हो नमस्ते करने का अभिप्राय है- ज्ञानपूर्वक, श्रद्धा और प्रेम सहित, अपने सामर्थ्य से किसी का यथोचित् अभिवादन करना। अभिवादन के रूप में छोटे अपने बड़ों के प्रति श्रद्धा और आस्था व्यक्त करते हैं, बड़े छोटों के प्रति अपना स्नेह व आशीर्वाद प्रकट करते हैं और बराबर वाले एक-दूसरे के प्रति मैत्री भाव से सहयोग की कामना करते हैं। इसी प्रकार पुत्र माता-पिता के सामने और शिष्य गुरु के सामने आदर-सत्कार की भावना से नमन करता है तो माता-पिता और गुरुजन स्नेह करने व आशीर्वाद देने के लिए झुकते हैं।

इसलिए अभिवादन करते समय 'नमस्ते' का बोलना ही उपयुक्त है। इसी को बोलें और अन्यों को सिखावें, बतावें, आर्ष परम्परा का वहन करें।

जिज्ञासा ८ - आप जैसे विद्वानों से सुना है कि जीवन में व्यवहार

कुशलता का बहुत महत्त्व है। इसके बिगड़ने से ही मनुष्य दुःख बढ़ा लेता है। व्यवहार के लिए अर्थात् व्यवहार सिखाने के लिए आजकल के आधुनिक लेखकों ने प्रकाश डाला है। अनेक लोग इनकी पुस्तकों को पढ़ते भी हैं और इस विषय में हमारे ऋषियों ने भी अपने ग्रन्थों में उपदेश किया है।

मेरी जिज्ञासा यह है कि व्यक्ति अधिक व्यवहार कुशल, धार्मिक, उत्साही, शान्त इन आधुनिक लेखकों की पुस्तकें पढ़कर हो सकता है या ऋषियों की ? कृपया, यह भी बतायें कि ऋषियों ने व्यवहार कुशलता के लिए क्या-क्या लिखा है ?

- संदीप आर्य, आट्टा, हरियाणा

समाधान- आपने ठीक सुना है , जीवन में सद्व्यवहार का बहुत बड़ा महत्त्व है। आज सामाजिक व्यवहार सिखाने वाले बहुत हैं। इन व्यवहार शिक्षकों में अधिकतर विदेशी और कुछ देशी हैं। ये दूसरों के जीवन को व्यवहार कुशल व सुखी उत्साही बनाने की गारंटी लेते हैं। कुछ तो मंचों पर जाकर सभा-सेमिनार करके इस प्रकार की शिक्षा देते हैं। इनके सभा-सेमिनार में व्याख्यान देने की फीस ही ६०-७० हजार रु. होती है। इन व्यवहार शिक्षकों ने अपने-अपने नाम से अनेक पुस्तकें भी लिख रखी हैं।

इनकी पुस्तकों, व्याख्यानों से कितने लोग व्यवहार कुशल, सुखी, उत्साही हुए- यह बात तो ये ही जानें। यहाँ हम तो यह कहना चाहते हैं कि जो लोग नेम एण्ड फेम के चक्कर में हो, हजारों रु. की फीस के चक्कर में हो, जिसका विचार केवल लोक तक सीमित हो, वह स्वयं पूरी तरह व्यवहार कुशल, सुखी, उत्साही हो और दूसरों को भी इस प्रकार का बना सके, ऐसा लगता नहीं। किन्तु हमारे सामने ऐसे भी व्यक्तित्व हैं, जिनको नेम एण्ड फेम की कोई चिन्ता नहीं, रुपये-पैसे से कोई लेना-देना नहीं (अर्थात् सांसारिक ऐषणाओं से रहित), जो प्राणी मात्र के प्रति दया का

भाव रखते हैं, जिनका उद्देश्य केवल सांसारिक सुख नहीं होता, जिनकी दृष्टि लोक और परलोक दोनों पर होती है, वे लोग स्वयं व्यवहार कुशल, सुखी, उत्साही हैं और जो उनके सम्पर्क में आते हैं, वे भी ऐसे बन जाते हैं। वे हैं हमारे समस्त ऋषि-महर्षि। आपने पूछा है कि किनकी शिक्षा से व्यक्ति व्यवहार कुशल बन सकता है- इन आधुनिकों से या ऋषियों से? तो हमारा मत है- ऋषियों से, किन्तु ये आधुनिक भी सर्वथा त्याज्य नहीं हैं।

आपने कहा- ऋषियों ने इस विषय में कहाँ क्या लिखा है? सो हमें उसको यहाँ कुछ विस्तार से लिखते हैं। हम छोटे-बड़ों से किस प्रकार वर्तें, बड़ों का छोटों के प्रति और छोटों का बड़ों के प्रति कैसे व्यवहार करें, पति-पत्नी का व्यवहार, माता-पिता, भाई, बन्धु आदि का व्यवहार क्या है, कैसे करना चाहिए, सभा में जाकर हम कैसा आचरण करें आदि-आदि बातें महर्षि मनु ने अपने धर्म ग्रन्थ मनुस्मृति में बतायी हैं।

जब कोई वृद्ध व्यक्ति हमारे पास आये तो हम उसका किस प्रकार सत्कार करें, उदाहरण के लिए यहाँ मनु का श्लोक लिखते हैं-

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात्।।

- मनु. ४.१५४

सदा विद्या वृद्धों और वयोवृद्धों को नमस्ते अर्थात् उनका मान्य किया करे। जब वे अपने समीप आवें, तब उठकर मान्य पूर्वक ले अपने आसन पर बैठावें और हाथ जोड़ के आप समीप बैठें, पूछे, वे उत्तर देवें और जब जाने लगें तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर नमस्ते कर विदा किया करें।

अपने बड़ों से वार्तालाप का शिष्टाचार क्या हो, इस विषय में महर्षि मनु कहते हैं-

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत्।

नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः।।

- मनु. २.१९५

प्रतिश्रवण अर्थात् गुरु=बड़ों की बात या आज्ञा का उत्तर देना या स्वीकृति देना और बातचीत, ये सब लेटे हुए न करें, न बैठे-बैठे, न कुछ खाते हुए, न दूर खड़े होकर और न मुँह फेर कर बातें करें- इत्यादि बहुत सी व्यवहार की बातें महर्षि मनु ने कही हैं, जिनसे व्यक्ति व्यवहार कुशल, सुखी, धार्मिक आदि बनता है। महर्षि मनु के पश्चात् महर्षि पतञ्जलि अपने योगदर्शन में किस प्रकार व्यक्ति लोक में व्यवहार करे- यह अपने एक सूत्र के द्वारा बता रहे हैं-

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

-योगदर्शन १.३३

संसार में चार प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं, सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा। इन सभी से यथायोग्य व्यवहार, अर्थात् सुखी व्यक्तियों से मित्रता का भाव रखना, न कि द्वेष-शत्रुता का भाव, दुखियों के प्रति दया, करुणा करनी, घृणा न करनी, पुण्यात्माओं को देखकर उनसे मिलकर हर्षित होना, खिन्न न होना, पापात्मा, दुर्जन व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा अर्थात् न उनसे मित्रता और न ही शत्रुता रखना। ऐसा करने से व्यक्ति का मन प्रसन्न रहता है, वह दुःखी नहीं होता। धर्म और अपने कर्त्तव्य के प्रति अधिक अग्रसर होता है।

अब महर्षि कणाद को देखिये, वे अपने वैशेषिक दर्शन में पदार्थ विद्या सिखाने के साथ-साथ व्यवहार विद्या सिखा रहे हैं। हमें किससे लेना चाहिए, किसको देना चाहिए, कैसे लेना चाहिए, कैसे देना चाहिए, विपत्ति में छोटे-बड़े को क्या सहयोग करे, बराबर वाले परस्पर क्या करें, हमारे सामने कोई हीन है, छोटा है, योग्यता में कम है तो विपत्ति में हम

उसके साथ कैसे वर्तें वा वह कैसा बर्ताव करे आदि अनेक बातें वैशेषिक दर्शन के छठे अध्याय में हैं।

और देखिये, आयुर्वेद के ऋषि आयुर्वेद में औषध विज्ञान, शरीर विज्ञान बताने, सिखाने से पहले व्यवहार विज्ञान बता-सिखा रहे हैं। वे अपने चरक शास्त्र में सद्वृत्त नाम का प्रकरण लिखकर उत्कृष्ट मानव बनाना चाहते हैं। हम कैसे वस्त्र धारण करें, केश विन्यास कैसा हो? कैसे बैठना-चलना हो? क्या खावें, कैसे खावें, कितना खावें, कब कैसा खावें? सभा में बैठकर नखों को न चटकावें, उनको दाँतों से न काटें। व्यर्थ बैठकर लोष्ठमर्दन न करें, उत्तमों की निन्दा न करें, हीन व्यक्तियों का संग न करें, उनके पास न बैठें- इत्यादि बातें महर्षि चरक हमारे जीवन को सरल बनाने के लिए बता रहे हैं।

अन्त में हम आर्यों के प्राण महर्षि दयानन्द का उदाहरण देते हैं। वैसे तो महर्षि के सभी ग्रन्थों में उत्तम व्यवहार की बातें मिलती हैं। इतना सब होते हुए भी महर्षि दयानन्द ने हमें व्यवहार को सिखाने के लिए '**व्यवहार भानु**' नामक पुस्तक लिखकर दी है। इस पुस्तक की भूमिका में ही बता दिया कि मनुष्य को सुख लाभ कैसे होता है और किस आचरण से व्यक्ति दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है? व्यक्ति का सम्मान-सत्कार कैसे होता है और किन कारणों से तिरस्कृत हो जाता है? किस मनुष्य का विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं और कौन है वह कि जिसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते? किस व्यक्ति का कार्य नहीं बिगड़ता और कौन अपना कार्य बिगाड़ बैठता है?

इस पुस्तिका में महर्षि ने बालक से लेकर वृद्धपर्यन्त और राजा से लेकर प्रजा तक सबका व्यवहार लिखा है और ग्रन्थ के अन्त में तो महर्षि जैसे प्रतिज्ञा कर रहे हों कि "**जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो, परन्तु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक होके खाने-पीने,**

बोलने-सुनने, बैठने-उठने, लेने-देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है, वह कहीं कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़ के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़ के दुष्ट कर्मों को करता है, वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता।" उत्तम व्यवहार करने वाला ही सुखी हो सकता है, अन्य नहीं- ऐसा महर्षि का निश्चय है।

सभी ऋषियों ने अपने ग्रन्थों में मनुष्य मात्र को व्यवहार कुशल, धार्मिक, उत्साही, सुख, आस्तिक बनाने के लिए लिखा है। इन आधुनिक व्यवहार सिखाने वालों से व्यक्ति कुछ व्यवहार कुशल हुए हों, यह मान सकते हैं, किन्तु इनसे कितने मनुष्य आस्तिक-धार्मिक बनते हैं, बने हैं, यह विचारणीय है।

यह हमने ऋषियों का दिग्दर्शन मात्र करवाया है। इसी में स्थिर बुद्धि होकर स्वयं विवेचना करें कि श्रेष्ठ-उत्तम व्यवहार शिक्षक ऋषि हैं अथवा ये आधुनिक सभा-सेमिनार करने वाले?

जिज्ञासा ९- मेरी जिज्ञासा का विषय है **'देहदान'**।

मृत्यु के पश्चात् दाह संस्कार प्राचीन काल या वैदिक काल से ही किया जाता है, ताकि पर्यावरण शुद्ध रहे। आजकल हर बड़े-बड़े शहरों में **विद्युत् शव दाह गृह** भी बनाये जाते हैं, ताकि समय कम लगे और मरघटों पर जो लूट होती है, उससे भी जनता को निजात मिले। साथ ही वृक्षों की भी रक्षा हो, जो कि पर्यावरण सन्तुलन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

आजकल समाचार पत्रों में देहदान के लिये मेडिकल कॉलेजों द्वारा विज्ञापन निकलते रहते हैं कि अधिक से अधिक लोग नेत्रदान एवं देहदान करें। कई संस्थायें भी इस कार्य में कार्य कर रही हैं, ताकि मेडिकल के छात्रों को मानव शरीर पढ़ाई के लिये उपलब्ध हो।

अतः मेरी जिज्ञासा है कि आप विद्वानों की इस विषय पर क्या राय

है? देहदान करना चाहिये या नहीं? क्या ऋषि दयानन्द जी ने इस विषय पर कहीं कुछ लिखा है या नहीं? उत्तर की प्रतिक्षा में।

आशा आर्या, 'अभिनन्दन' १४, मोहन मेकिन्स रोड, डालीगंज, लखनऊ

समाधान - आप देहदान विषय में हमारा मत जानना चाहती हैं कि देहदान किया जावे या न किया जावे, तो हमारे विचार में देहदान किया जा सकता है, कर सकते हैं, यदि उसके सदुपयोग होने की सम्भावना अधिक हो तो। ऐसा करने से उस शरीर के द्वारा चिकित्सा शास्त्र के छात्र शरीर विज्ञान को जानेंगे और अन्यों को जनायेंगे। पहले चिकित्सा महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में शरीर विज्ञान को साक्षात् जानने के लिए प्रायः अनाथ (लावारिस) शव का प्रयोग करते थे, देहदान का बहुत कम प्रचलन था। उस समय चिकित्सा शास्त्र को पढ़ने वाले छात्र कम होते हुए भी उन शवों से कम पूर्ति हो पाती थी, किन्तु आज इस शास्त्र को पढ़ने वाले (डॉक्टर बनने वाले) बहुत अधिक हो गये, इस कारण शव भी अधिक चाहिए, जो कि लावारिस बहुत कम मिलते हैं। पूर्ति करने के लिए कुछ चिकित्सा महाविद्यालय आदि (मेडिकल कॉलेज) विदेशों से शव खरीदते हैं जो कि बहुत महँगा पड़ता है। इस कारण आजकल देहदान के लिए विज्ञापन आदि के द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है, किया जा रहा है सो गलत नहीं है। जीते हुए शरीर के द्वारा परोपकार होता रहे और मरने के बाद भी शरीर परोपकार के काम आ जाये तो अच्छा ही है। किन्तु ऐसा सब कर भी नहीं सकते, नहीं करते, यदि सब करने लग जाये तो चिकित्सा संस्थान अपनी आवश्यकता से अधिक शवों को लेंगे भी नहीं।

देहदान करने वाला अपने जीवन काल में कम से कम २० किलो अथवा इससे अधिक घी का होम अवश्य करे अथवा अपने कुटुम्बी जनों को ऐसा करने के लिए कह जाये, ये वैदिक रीति है, क्योंकि चिकित्सा

संस्थान उस शरीर का प्रयोग करने के बाद जिस-किसी प्रकार से उसको पञ्चतत्त्व में विलीन करेगा ही, जिससे जल-वायु की अशुद्धि होगी। वह अशुद्धि न हो इसका दायित्व तो संस्थान का ही है, किन्तु वह ऐसा नहीं करता, उसके स्थान पर देहदान कर्त्ता वा कुटुम्बी जन करते हैं तो महापुण्य के भागी होंगे।

अब रही प्राचीन काल से चली आ रही शरीर का दाह करने की परम्परा सो निश्चित रूप से उचित है। गाड़ने, जंगल में फेंकने, जल में बहाने आदि से अधिक श्रेष्ठ है। **'भस्मान्तं शरीरम्'** एक सामान्य नियम है कि शरीर का अन्त भस्म होने तक है, शरीर को भस्म करना चाहिए, किन्तु अपवाद प्रायः सब जगह मिलते हैं। अनेक बार किसी परिस्थिति विशेष में शरीर को भस्म नहीं कर पाते, जिस किसी प्रकार से उसको पञ्चतत्त्व में विलीन कर देते हैं। जैसे समुद्र में जहाज डूबते हैं तो सैंकड़ों लोग भी डूब मरते हैं, भूकम्प आने पर दब जाते हैं, बर्फ में दब जाते हैं, बाढ़ में बह जाते हैं तो उनका प्रायः दाह कर्म नहीं हो पाता है, **इसलिए 'भस्मान्तं शरीरम्' सामान्य नियम है, अपवाद रूप में देह दान किया जा सकता है।**

वर्तमान परिस्थिति में विद्युत् दाह गृह ठीक ही है। इससे काष्ठादि अग्निदाह की अपेक्षा बहुत कम प्रदूषण होता है। इसमें यदि शव के साथ घी सामग्री हम नहीं रख पाते तो पृथक् से उतने घी-सामग्री का होम कर देना चाहिए। स्वामी दयानन्द जी का इस विषय में सीधा-सीधा कोई लेख पढ़ने को नहीं मिला। **हाँ, सत्यार्थ प्रकाश के तेरहवें समुल्लास में शव को गाड़ने, जल में फेंकने से अच्छा जंगल में छोड़ना लिखा है कि मांसाहारी जीव-जन्तु खा जावें, यह कर्म भी अग्निदाह से तो हीन ही है।** जंगल में छोड़ना लिखा है तो हम अपने देह का दान चिकित्सा संस्थान को शरीराध्ययन के लिए भी कर सकते हैं।

जिज्ञासा १०- मृत्यु पर मेरी कुछ शंकाएँ हैं। कृपया, निराकरण

करने की कृपा करें।

स्वभाविक मृत्यु ?– अकस्मात् मृत्यु

१. दो दिनों के बच्चे के पीलिया अथवा अन्य व्याधियों से मृत्यु।

२. नवयुवक खेलते हुए ... तथा कुछ क्षणों में मृत्यु।

३. ५०–५५ वर्ष की आयु स्वस्थ शरीर १–२ दिन दस्तों से पीड़ित रहने के उपरान्त मृत्यु।

४. ८०–८२ वर्ष की अवस्था में मृत्यु पीड़ित रहे, इलाज से ठीक हुए उपरान्त चलते हुए ठोकर लगी, गिरे एवं मृत्यु।

५. ९०–९२ वर्ष की आयु में गुर्दे आदि के रोग से उपचार के बीच मृत्यु।

मेरा अपना विचार है कि ईश्वर आयु का निर्धारण न कर श्वास पर आधारित जीवन देता है, श्वास पूरी होने पर किसी न किसी बहाने से मृत्यु होती है, क्योंकि मृत्यु में ईश्वर दोषी नहीं बनना चाहते, इसलिए आज भी एक कहावत चली आ रही है, मृत्यु के लिए बहाना बन जाता है।

कृपया, मेरी शंका का समाधान करें।

– **देवपाल**

समाधान – जो उत्पन्न हुआ है, वह नष्ट भी होता है। जन्म है तो मृत्यु भी अवश्यम्भावी है। मृत्यु के विषय में लोगों के भिन्न–भिन्न मत हैं। कुछ लोग सभी प्रकार की मृत्यु अर्थात् रोग–शोक, दुर्घटना आदि से होने वाली मृत्यु को स्वभाविक मानते हैं, फिर क्यों न वह मृत्यु बचपन, किशोर, युवावस्था वा वृद्धावस्था में हुई हो। उनका कहना होता है कि सबके श्वास ईश्वर ने निश्चित कर रखे हैं। कुछ लोग ऐसा नहीं मानते, उनकी मान्यता है कि हम अपने श्वासों को अर्थात् आयु को घटा, बढ़ा सकते हैं, अनुकूल–प्रतिकूल आहार–विहार, आचार–विचार करके। उनका तात्पर्य है कि

श्वास निश्चित नहीं हैं। उनका यह विचार अधिक तर्क संगत है।

ये स्वाभाविक और अस्वाभाविक मृत्यु क्या है? इसका उत्तर है, **जो हमें शरीर मिला है, उसका जर्जर होकर छूट जाना स्वभाविक मृत्यु है,** इसके अतिरिक्त जो भी रोग-शोक आदि से मृत्यु होती है, वह सब अस्वाभाविक मृत्यु है। आपने जो भी उदाहरण दिये हैं, वे सब प्रायः अस्वभाविक मृत्यु के हैं। इस बात का कोई वैदिक आधार नहीं है कि हमारे श्वास निश्चित हैं। यदि श्वास निश्चित ही होते तो रोगी का औषधोपचार करना, चिकित्सालय खोलना, स्वस्थ रहने के लिए व्यायाम-प्राणायाम आदि करना, ये सब व्यर्थ हैं। हमारा भोजन आदि करना भी व्यर्थ है क्योंकि आपकी मान्यतानुसार श्वास तो निश्चित हैं, उतने श्वासों तक तो हमें जीयेंगे ही। यदि इस श्वास को निश्चित वाली अवैदिक मान्यता को मानते हैं तो संसार के मनुष्यों के उद्योग का बहुत बड़ा भाग जो कि मनुष्य उसको जीने के लिए करता है, वह व्यर्थ सिद्ध होगा। **इसलिए वैदिक मान्यतानुसार श्वासों को निश्चित न मानकर उद्योग करते हुए सुखपूर्वक जीवन जीने का यत्न करते रहें।**

यह कहना कि "मृत्यु श्वास पूरी होने तक किसी बहाने से होती है, क्योंकि ईश्वर इसमें दोषी नहीं बनना चाहते" उचित नहीं, क्योंकि यह कथन तभी कहा जायेगा, जब व्यक्ति ईश्वर के स्वरूप व सिद्धान्त को ठीक नहीं समझ रहा होता। जब श्वास पूरी हो गई है और बिना बहाने शरीर छूट रहा है तो इसमें ईश्वर दोषी कैसे बनेगा? दोषी तो तब होवे जब श्वास पूरे न हुए हों और किसी बहाने से मृत्यु हो रही हो अथवा श्वास पूरे होने पर किसी बहाने से मृत्यु हो। श्वास पूरे होने पर भी रोगादि का बहाना बनाना दोष की कोटि में आवेगा, क्योंकि श्वास पूरे होने पर भी रोगादि का दुःख भोगना पड़ रहा है, इसलिए यह कहना कि 'ईश्वर दोष से बचना चाहते हैं' सर्वथा असंगत है, क्योंकि ईश्वर के सर्वज्ञ व न्यायकारी होने से वह कहीं

कभी दोष को प्राप्त होता ही नहीं, तो उससे बचना कैसा?

समाज में अनेक सारे मिथ्या विचार प्रचलित हो जाते हैं, वे परम्परा से चलते रहते हैं। अविद्वान् लोग इन विचारों को ही ठीक मानने लग जाते हैं और हानि करते रहते हैं। 'मृत्यु के लिए बहाना बन जाता है' यह विचार भी सैद्धान्तिक नहीं है। यदि इसको ठीक मानकर चलते हैं तो क्यों हत्या करने वालों को जेल में डाला जाता है, क्योंकि वे तो बहाना मात्र थे, सामने वाले की मृत्यु तो होनी ही थी। किन्तु हम ऐसा नहीं करते, अपराधी को दण्ड दिलवाते अथवा देते हैं। इससे पता चलता है कि वह बहाना नहीं था, अपितु मरने वाले के प्रति अन्याय था।

जिज्ञासा ११- स्वामी जी ने संस्कार विधि में सोलह संस्कारों में अन्त्येष्टी संस्कार के बाद कुछ नहीं लिखा। एक सभा सब परिवार वाले प्राणी के मरने के बाद जरूर करते हैं और वह है 'श्रद्धांजलि' कार्यक्रम। सब आर्यसमाजी भी इस कार्यक्रम को करते हैं, परन्तु सब अपने ही मन के अनुसार करते हैं। आर्य समाजियों में इसमें भी एकता लाना बहुत जरूरी है। इस विषय पर मैं एक मासिक पत्र की कटिंग भेज रहा हूँ, कृपया इस पर अपनी अध्यात्मिक विद्वत् गोष्ठी में भी चर्चा करा कर अपना निर्णय परोपकारी में छाप देवें, जिससे समाजियों में एकरूपता हो सके।

सत्यपाल गुप्ता, १०, रामा स्टेट, दयाल हग गुरुद्वारा रोड, महेश नगर, अम्बाला केन्ट-१३३००१

समाधान - आपने अपना विचार रखा कि 'अन्त्येष्टि के बाद मृतक के परिवार वाले क्या करें?' इस विषय में विद्वत् गोष्ठी में चर्चा की जाये और निर्णय परोपकारी में छापा जाये। आपके इस विचार का हम स्वागत करते हैं। आगे भविष्य में कभी अनुकूलता हुई तो अवश्य इस विषय पर विचार किया जावेगा।

अभी इस विषय में महर्षि दयानन्द के अनुसार कुछ लिखते हैं। महर्षि

की मान्यतानुसार अन्त्येष्टी के बाद अस्थि संचयन से पृथक् मृतक के लिए कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है। आज वर्तमान में अन्तिम संस्कार के बाद भी अनेक अवैदिक आडम्बर चल रहे हैं, जिससे समाज की बड़ी हानि हो रही है। कुछ वैदिक धर्मियों को छोड़कर अन्य इस पाखण्ड जाल में फँसे हुए हैं। मृतक श्राद्ध करना, मृतक की राख को गंगादि नदियों में बहाना, गरुड़ पुराण का पाठ करना-करवाना, ब्राह्मणों को भोज कराना, पाखण्डियों को बहुत-सा दान देना, वैतरणी पार करने के लिए गोदान करना आदि सब अवैदिक कर्म हैं।

हाँ, यदि व्यक्ति सम्पन्न है तो वह अपने जीते-जी वा मरने के पश्चात् उनके सम्बन्धी जन वेद विद्या के प्रचार-प्रसार के लिए जितना धन व्यय करे, उतना अच्छा है।

आजकल अन्त्येष्टी के बाद किसी दिन विशेष पर जो श्रद्धाञ्जलि कार्यक्रम होता है, जिसको 'शोक सभा' भी कहते हैं, यथार्थ में उसको शोक सभा न कहकर शोक निवारण सभा कहना चाहिए। श्रद्धाञ्जलि सभा किस प्रकार हो, इसके लिए आपने जो एक लेख की प्रतिलिपि भेजी है, उसमें काफी कुछ ठीक लिखा है। फिर भी अपने विचार यहाँ रख रहे हैं। श्रद्धाञ्जलि सभा में सबसे पहले मृतक परिवार वालों से यज्ञ करवाया जाये। मृतक चित्र रखना चाहें तो रख लें, अन्यथा उसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। चित्र रखने पर उसके सामने फूलमाला, फूल, धूप-अगरबत्ती, दीपक जला कर रखने की आवश्यकता नहीं है, यदि ऐसा करते हैं तो वह अवैदिक कर्म होगा। **हमारे विचार में वहाँ फूल व फूलमाला लानी ही नहीं चाहिए।** यज्ञ के पश्चात् मृतक के प्रति जो लोग प्रीतभाव प्रकट करना चाहते हों, वे प्रीतभाव प्रकट करें व मृतक परिवार के प्रति संवेदना व्यक्त करें। इस अवसर पर कोई योग्य वैदिक विद्वान् अवश्य होवे, जिसके उपदेश से सबके मन शोक को छोड़ प्रसन्नता को प्राप्त हो। इस अवसर पर

यदि परिवार जन वेद विद्या के लिए, दीनों की सहायतार्थ वा अन्य परोपकार के लिए दान करना चाहें तो अवश्य करें, यह उनके लिए पुण्य कार्य होगा। इसके पश्चात् परिवार जन सबको आदर पूर्वक विदा करे।

इन विचारों के अतिरिक्त विद्वत्जनों का जो विचार आयेगा, उसका हम स्वागत करेंगे।

सब मनुष्यों को उचित है कि ईश्वर और विद्वान् का सत्कार करना कभी न छोड़ें, क्योंकि अन्य किसी से विद्या और सुख का लाभ नहीं हो सकता है, इसलिये इनको जानें।

–महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ५.३१

जब मनुष्य धार्मिक होता है, तब उसका विश्वास मान्य शत्रु भी करते हैं और जब अधर्मी होता है, तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते।

महर्षि दयानन्द, व्यवहार भानु

आर्य समाज के नियम

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५. सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।



ईश्वर
धर्म
दर्शन
संस्कृति
सभ्यता
इतिहास



क्या
क्यों = जिज्ञासा विमर्श
कैसे